स्थापित – 1992

श्री उत्कर्ष

I.A.S

हिन्दी माध्यम का अप्रतिम संस्थान

हिन्दी साहित्य

(प्रथम प्रश्न–पत्र)

(भाग – 2)

हिन्दी साहित्य का इतिहास

मध्यकाल

1425, औट्रम लाइन, बी. बी. एम डिपो के सामने
किंग्जवे कैम्प, दिल्ली – 110009
Ph : 27659400, 9868448606

" श्री उत्कर्ष I.A.S "

हिन्दी साहित्य - प्रथम प्रश्न-पत्र (भाग - 2)

हिन्दी साहित्य का इतिहास

मध्यकाल

हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता एवं उसका महत्व	2 - 24
आदिकाल	25 - 55
भक्तिकाल	56 - 148
भक्तिकाल का रीतिकाल में रूपांतरण	149 - 173

हिन्दी साहित्य - प्रथम प्रश्न-पत्र (भाग - 2)

हिन्दी साहित्य का इतिहास

- हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता एवं उसका महत्व
- इतिहास, साहित्येतिहास-दृष्टि एवं इतिहास लेखन की परम्परा
- आदिकाल
    - कालावधि
    - परिस्थितियां
    - नामकरण
    - प्रवृत्तियां
    - रासोकाव्य
    - पृथ्वीराज रासो

हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता एवं उसका महत्व

- साहित्य
- प्रासंगिकता
- महत्व
- साहित्य क्या है ? सहित शब्द से साहित्य बना है।

भामह नाम के आचार्य ने सहित शब्द का प्रयोग 6ठीं शताब्दी में पहली बार किया है। पहले जो कुछ भी रचनाएं, कविता, गद्य, पद्य हैं, उनको काव्य कहा जाता था। शब्द और अर्थ का सहित भाव ही साहित्य है। शब्द और अर्थ की अवधारणा किसी भी रचना को सुन्दर बनाती है। साहित्य में शब्द की सुन्दरता भी अनिवार्य है, शब्दों का बहुत गहरा प्रभाव हमारी मनोरचना पर पड़ता है। शब्द महज छिलके की तरह नहीं होते, शब्द पूरी दुनियां के समाज का आइना होता है। ऐसा शबद जो हमारे भीतर की मनुष्यता को, कल्पना को, देवत्व को जगाता है, आरोहण (ऊपर की ओर) करता है, वही सुन्दर शब्द का अर्थ है। सुन्दर शब्द के साथ सुन्दर अर्थ भी अपेक्षित है। शब्द की सुन्दरता गारन्टी नहीं देती कि अर्थ भी सुन्दर हो।

सुन्दर शब्दों के माध्यम से मानवीय सम्बन्धों के सकारात्मक पक्षों का उद्घाटन करता है, वही साहित्य है। साहित्य वह है जो हममें एक बेहतर मनुष्य बनने की संभावना प्रेरित करता है।

महाभारत इस बात का बोध पैदा करता है कि मनुष्यों की आपसी कटुता, क्रोध पैदा करता है। साहित्य से रहित समाज भूतों का समाज हो सकता है, मनुष्यों का नहीं।

शब्दार्थौ: सहितम् काव्यम्। - भामह

काव्यशास्त्र में साहित्य का एक अर्थ है - रस की उत्पत्ति, इसलिए काव्य वह है जो आनन्द पैदा करता है। आनन्द का अर्थ है जहां पर मैं और अन्य का भेद समाप्त हो जाता है, वही मानवीय दशा आनन्द है। साहित्य 'मैं' को दबा देता है और 'पर' में प्रवेश करा देता है। मैं के स्थगित होने पर जो मात्र पैदा होता है उसे **करुणा** कहा गया है।

साहित्य में जो आनन्द है (जिसे रस कहा गया है) उसकी प्रकृति क्या है ? काव्यशास्त्रियों ने कहा कि इसको परिभाषित तो नहीं कर सके लेकिन यह बिल्कुल वैसा होता है जैसा ब्रह्मज्ञान होने पर होता है। आधुनिक काव्य में आकर आनन्द की प्रकृति में परिवर्तन हुआ। आचार्य शुक्ल ने साहित्य की परिभाषा में आधारभूत परिवर्तन किया। किसी भी देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत का संचित प्रतिबिम्ब होता है।

चित्तवृत का अर्थ चेतना का स्वभाव है, इसलिए साहित्य का संबंध सामाजिक चेतना से है। जो सामाजिक चेतना है वह शाश्वत नहीं होती, वह बनती है परिस्थतियों से, परिस्थितियां सामाजिक चेतना का निर्माण करती हैं।

साहित्य पढ़ने से सामाजिक चेतना के परिवर्तन के इतिहास का प्रतिबिम्ब बनता है। साहित्य में जो सामाजिक सम्बन्ध है, मनोवैज्ञानिक दशा है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। हमारे सौंदर्य के प्रतिमान बदलते हैं, हमारे संबंधों के प्रतिमान बदलते हैं। मध्यकाल में स्त्रियों की विरह की दशा मिलती है, आधुनिक काल में विरह, वियोग की दशा नहीं मिलती है।

उत्कर्ष क्लासेज (प्रा.लि.) उत्कर्ष IAS Ph.7659400, 9868448606 IAS/PCS

- साहित्य वर्गीय चेतना की अभिव्यक्ति है, मनुष्यमात्र की नहीं। (सामाजिक स्तर पर)
- गरीबी व भूख पर जिस तरीके से तुलसीदास ने लिखा है, वैसा किसी ने नहीं लिखा। साहित्य का लक्ष्य है - सामाजिक परिवर्तन, साहित्य परिभाषित होता है वर्गीय चेतना से।

प्रासंगिकता / महत्व :

महत्व का सम्बन्ध पहचान (अस्मिता) से जुड़ा हुआ है। प्रासंगिकता का संबंध बहुत हद तक उपयोगिता से जुड़ा हुआ है। प्रासंगिकता को हम कैसे निर्धारित करेंगे ?

वर्तमान समय का संकट क्या है ? प्रासंगिकता का निर्धारण इसी प्रश्न से होता है। कोई भी समाज अपने समय की चुनौतियों के संदर्भ में प्रासंगिकता ग्रहण कर सकता है। प्रासंगिकता हमेशा जमीनी होती है, उस तरह का विचार होती है जो सीधे जमीनी हकीकतों को संबोधित करती है।

रोशनी जितनी भी धीमी हो, आदरणीय है। हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता क्या है ? हिन्दी समाज की चुनौतियां क्या हैं ?

हिन्दी समाज एक खास तरह का समाज है, जो पंजाबी, बंगाली, तमिल समाज से बिल्कुल अलग है।

यह अवतारों की भूमि है, यह गंगा और यमुना की भूमि है और साथ ही यह क्षेत्र सबसे अधिक रिश्वतखोर है। हमारी चुनौतियां शेष हिन्दुस्तान की चुनौतियों से अलग हैं।

हिन्दी साहित्य में जितने बड़े सपने हैं, उतने बड़े सपने किसी अन्य साहित्य में नहीं हैं। **हिन्दी साहित्य की चुनौतियां 3-4 स्तरों पर हैं**

1. सभ्यता और **व्यक्तित्व का संकट**

मैं और अन्य के बीच में जो सम्बन्ध था वह नष्ट हो गया है। 'मैं' का लोप हो गया है, 'पड़ोस' हमारे शब्दकोष से गायब हो गया है। समाज और व्यक्तित्व का जो संबंध है, वह काफी हद तक क्षीण हो गया है। साहित्य इस धारणा को स्थापित करता है कि हम एक समाज में रहते हैं। साहित्य की प्रासंगिकता यह है कि वह हमारे सामाजिक बोध को विकसित करता है। **वह सभ्यता के सबसे बड़े संकट को सम्बोधित करता है।**

इस संदर्भ में कवि प्रेमरंजन अनिमेष की ये पंक्तियां अपने समय की सबसे बड़ी चुनौती को संबोधित करती हैं :

क्या स्वच्छ जल केवल बचा रह जायेगा,
नारियल में और बांस कोठ में
साफ़ हवा

राजनीति व बाजार के द्वारा **मनुष्य की पहचान और उसके सपनों को नष्ट कर** देने की जो प्रवृत्ति पैदा की गयी है, साहित्य उसको पुनर्वास करने का कार्य करता है।

2. **प्रासंगिकता** का एक सूत्र यह भी है कि वह **दलित चेतना** को, दलित विचारधारा को अपने केन्द्र में स्थापित करता है। हिन्दी प्रदेश में दलित चेतना एक बहुत बड़ी चेतना है।

- तीसरी बात **स्त्री** को लेकर है। परिस्थितियों ने स्त्री की पूरी परिभाषा बदल दी है। स्त्री की आर्थिक स्वनिर्भरता ने स्त्री की छवि को बदल दिया है। स्त्री के बाहर आने से नयी तरह की सामाजिक स्थितियां पैदा हुई हैं। अच्छी स्त्री की परिभाषा स्त्री ने नहीं की है, पुरुष ने की है। स्त्री के बारे में बहुत झूठ फैलाया गया है, उसमें एक झूठ यह भी है कि वह देवी होती है। एक भी ऐसा व्रत नहीं बनाया गया है जो पुरुष अपनी स्त्री के लिए करता हो, ऐसा इसलिए कि यह परम्परा पुरुषों ने बनायी है। एक धारणा सतीत्व की है। सतीत्व का अर्थ - वह स्त्री जो अपने पति के अतिरिक्त किसी से भी भावनात्मक सम्बन्ध नहीं रखती है। पुत्र उसके पति का ही है, इसको सुनिश्चित करने के लिए सतीत्व की धारणा लायी गयी, उत्तराधिकारी पुत्र ही होता था और राजा की सम्पत्ति सुरक्षित रहे, अपने पुत्र के हाथों में यह सुनिश्चित करने हेतु ही सतीत्व की अवधारणा लायी गयी।

स्त्री विमर्श में जो परम्परागत समाज का ढांचा था उसको बहुत बड़े प्रश्नों के घेरे में डाल दिया। वर्तमान समय में उक्त सभी मिथक टूट रहे हैं। दलित और स्त्रियों का जो मुद्दा है, उन पर जो सवाल उठे हैं, उनपर सबसे प्रासंगिक मुद्दे हिन्दी साहित्य में उठे हैं।

3. विकास की अवधारणा

विकास का जो मौजूदा ढांचा है वह धरती को निरन्तर विकलांग बना रहा है, इस विकास की अवधारणा पर प्रश्नचिन्ह लगाया गया है।

प्रकृति के साथ मनुष्यों की विच्छिन्नता मनुष्य को विकृत करती है। जैसे जैसे हम प्रकृति के नजीदी जायेंगे मनुष्य सहज व सरल दिखायी देगा। मनुष्य और प्रकृति की दूरी एक आत्मघाती सभ्यता का विकास करती है। इसलिए **पर्यावरण का संकट** व **विस्थापन**, दुनिया में एक बड़े संकट के रूप में उभर कर आए हैं। इसलिए विकास का एक ढांचा सांस्कृतिक विस्मृति का संकट पैदा कर रहा है। सांस्कृतिक विस्मृति आंगन में झूलता हुआ चाँद, चैत, वैशाख, मौसम, पिछवाड़ा . . . . अपनी पहचान,

अपनी परम्परा का उन्मूलन हो रहा है. यह भी एक बड़ा संकट है। हम लगातार एक भाषा की ओर बढ़ रहे हैं। इस संकट की गूंज बड़े पैमान पर हिन्दी साहित्य में दिखाई पड़ती है।

4. **राजनीतिक मूल्यहीनता** भी एक बड़ा संकट है। तीसरी दुनिया की जो सरकारें हैं, इनकी नीति अमेरिका तय कर रहा है. ये सरकारें अमेरिका की भाषा ही बोलती हैं. प्राथमिकताएं World Bank तय करता है।

नवसाम्राज्यवाद हमारे बच्चों के सपनों में भी प्रवेश कर गया है. हमारे बच्चे किसी खिलौने से खेलेंगे अमेरिका तय करता है. चीन बनाता है।

ये राजनीति चला रहे हैं गांधी जी के नारों से.
मदिरा की बदबू आती है, संसद की दीवारों से।।

राजनीतिक स्तर पर जो मूल्यहीनता का संकट है. उसका पूरा मानचित्र साहित्य के भीतर दिखाबी पड़ता है :

राजा बोला रात है
मंत्री बोला रात है
सभी बोले रात है
यह सुबह-सुबह की बात है।

5. साम्प्रदायिकता :

धर्म का बहाना बना कर अन्य धर्मों के प्रति घृणा का भाव पैदा करना। धर्म क्या है - धर्म के पहले अनुभव का सम्बन्धा उस जिज्ञासा से है, जिसमें मनुष्य ने पूछा - मैं कौन हूँ ? धर्म आत्म साक्षात्कार का माध्यम है। धर्म मनुष्य होने की योग्यता है। साम्प्रदायिकता मूलत: धर्म विरोधी है। किसी भी तरह की धार्मिकता चाहे वह इस्लामिक हो, हिन्दुत्व की हो, कभी भी बुनियादी मुद्दों पर बात नहीं करतीं। साम्प्रदायिकता एक प्रकार की रणनीति भी है, जिसके द्वारा समाज का ध्यान बुनियादी प्रश्नों से हटाया जा सके। साम्प्रदायिकता सिर्फ मनुष्य होने के स्वरूप को धुंधलाती है। उज्जैन के महाकुम्भ में

नहाने के झगड़े में 25 हजार साधु मारे गये थे। अभी भी हरिद्वार में कुम्भ में पहले कौन स्नान करे इसको लेकर विवाद है। हिन्दी अपनी प्रकृति में सम्प्रदाय विरोधी भाषा है, यह Composit culture है। शास्त्रीय संगीत में 90 प्रतिशत मुसलमान हैं, जो हमारी परम्परा व तहजीब है, साथ-साथ ही भाषा है, वह साम्प्रदायिक है ही नहीं। हिन्दी को मातृभाषा सर्वप्रथम अमीर खुसरो ने कहा, उपनिषदों का अनुवाद दाराशिकोह ने किया।

संस्कृत में तो साम्प्रदायिकता का प्रसार संभव ही नहीं है, देश की बुनियादी भाषा साम्प्रदायिक नहीं है। हिन्दी भाषा की पूरी बनावट साम्प्रदायिकता के प्रति उदासीन ही नहीं बल्कि उसके विरोध में भी है।

हिन्दी साहित्य इस साम्प्रदायिकता का चौतरफा विरोध करता है। मध्यकाल में मंदिर तोड़े जा रहे थे, लेकिन किसी भी कवि ने नहीं कहा कि मैं हिन्दू हूं। तुलसीदास ने अपने को भक्त कहा है, हिन्दू नहीं। उनके रहीम से काफी निकट सम्बन्ध थे। जायसी ने जरूर हिन्दी शब्द का प्रयोग किया है। हिन्दी साहित्य धार्मिक होने के बजाय यह विवेकवान मनुष्य बनने की बात करता है।

महत्व :

हमारा **समूचा जातीय अनुभव हिन्दी साहित्य में सुरक्षित है**, जातीय शब्द का अर्थ caste शब्द से नहीं है, यह Race से संबंधित है। हिन्दी जाति की जो पूरी परम्परा है वह मुकम्मल तौर पर इस साहित्य में सुरक्षित है। हिन्दी साहित्य में हमारे सामाजिक अनुभव, परम्परा और मूल चेतना आदि सुरक्षित हैं। हमारे सपने तक इसमें सुरक्षित हैं। हिन्दी साहित्य हमारे सपनों का अभिलेखागार नहीं है, बल्कि वह हमारे सपनों का भूगोल है, जिसमें हमारे सपने जीवित रूप में सुरक्षित हैं, अभिलेखागार में मृत चीजें रखी जाती हैं।

साक्षरता इसलिए चाहिए कि आप यह देख सकें कि विज्ञापन में, बाजार में क्या आ रहा है। जो जितना पढ़ा है वह अपने जातीय अनुभवों से, अपने जड़ों से उतना ही कटा हुआ है। **स्मृति का**

प्रश्न, समाज को पहचानने का प्रश्न व समाज को विश्लेषित करने की जो आंखें हैं, हिन्दी साहित्य में हैं।

- हम आइने के सामने खड़े थे और हम नहीं देख पा रहे थे कि हमारा चेहरा कैसा है। आइना देखने की गारन्टी नहीं देता, हमें देखना पड़ता है।

-000-

इतिहास, साहित्येतिहासदृष्टि और हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा

समय के प्रति जो यूरोप और भारत का दृष्टिकोण है उसमें फर्क है। समय के प्रति भारत की दृष्टि वर्तुलाकार है। इस दृष्टि को प्राप्त करने में सम्भवत: प्राकृतिक सत्यों का अन्वेषण और अनुशीलन किया गया है और शायद द्रष्टा और ऋषि यह देखता है कि जीवन एक वृत्ताकार यात्रा है - बीज से बीज तक। बीज शुरू होता है और अन्तत: बीज तक पहुंच जाता है, यही समय की चक्रीयता है। जबकि पश्चिम को इतिहास दृष्टि रेखीय है, नदी की तरह। एक बिन्दु से चलती है और दूसरी जगह चली जाती है और फिर कहीं वापस लौटना नहीं है। इसलिए यूरोप में घटनाओं का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वहां समय के कालखण्डों को बहुत महत्व दिया गया है।

इंगलैंड में 13वीं, 14वीं, 15वीं शताब्दी के गांवों को ज्यों का त्यों मॉडल के रूप में सुरक्षित कर दिया गया है। यह बहुत महत्वपूर्ण है कि चीजें समय में बची रहें। लेकिन भारतीय दृष्टि कहती है कि कुछ भी बचना नहीं है। इसलिए जिसे आप सुरक्षित रखना चाहते हैं और जो लोग सुरक्षित रखना चाहते हैं वे दोनों ही नहीं रहने वाले हैं। जिसे सुरक्षित रखा जाना है और जिसके द्वारा सुरक्षित रखना जाना है इन दोनों को समय नष्ट कर देगा। इसका प्रतिफलन हम देख रहे हैं कि पश्चिम कब्र बनाता है और उस पर नाम लिखता है। फिर हम कहते हैं कि यह फलां का कब्र है, स्मृति है। हमारे यहां जला दिया जाता है। एक जीवन का चक्र खत्म हो गया अब नयी शुरूआत होगी। इसलिए नये और पुराने का चक्र है, जो सनातन है, शाश्वत है और इसमें कुछ भी सुरक्षित रखना और खोना नहीं है। इसलिए हमारे यहां शरीर का नहीं आत्मा का कांसेप्ट है। कृष्ण यही कह रहे थे कि यह तो बचना नहीं है, मिट्टी है साफ हो जायेगी और जो भीतर है वह वैसे ही है जैसे हम नया कपड़ा पहनते हैं तो पुराना छोड़ देते हैं, आत्मा शरीर बदल देती है। हमारे यहां जीवन के प्रति तथ्यात्मक दृष्टिकोण भी है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी है। इसलिए महाभारत दो परिवारों की संघर्ष गाथा मात्र नहीं है। बल्कि मनुष्य की चेतना में जो

उसके देवत्व के गुण और दुर्बलताएं मौजूद हैं. महाभारत उसकी भी सनातन कथा है। प्रत्येक समाज. मनुष्य. मन में महाभारत की स्थितियां और महाभारत के पात्र मौजूद हैं।

इतिहास की भरपूर सामग्री पुराणों में मौजूद है लेकिन वे पुराण इतिहास नहीं हैं क्योंकि बहुत सारी अतिमानवीय स्थितियाँ उसमें दिखाई देती हैं। लेकिन 19वीं शताब्दी में इतिहास लेखन की परम्परा हिन्दुस्तान में शुरू होती है और उसका कारण यह है कि 1857 में हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उपनिवेश बन गया! अफ्रीका का एक बहुत महत्वपूर्ण चिंतक थ्योंगु का कहना है कि साम्राज्यवाद अपनी आरंभिक लड़ाई बारूद से लड़ता है, ताकत का इस्तेमाल करता है और बाद में उसकी वास्तविक लड़ाई ब्लैक बोर्ड पर शुरू होती है। यानी शिक्षा पर शुरू होती है और साम्राज्यवाद की स्थापित मान्यता है कि उपनिवेश की संस्कृति को नष्ट किए बिना उसे स्थायी रूप से गुलाम नहीं रखा जा सकता है। इसलिए साम्राज्यवाद अपने दूसरे चरण में किसी भी उपनिवेश की सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट करता है और सांस्कृतिक अस्मिता को तभी नष्ट किया जा सकता है जब उसके इतिहास को नष्ट किया जाये। इसलिए इतिहास का विद्रूपीकरण या इतिहास की मनचाही व्याख्या 19-20वीं शताब्दी के आरंभिक चरणों में दिखाई देती है। हम देखते हैं कि दो तरह का इतिहास लिखा जा रहा है. एक इम्पीरियल दृष्टिकोण है और एक नेशनलिस्ट दृष्टिकोण। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने हितों के लिए इतिहास लेखन की परम्परा शुरू की और उसका इनकाउंटर हुआ और हमने अपने हितों की रक्षा के लिए इतिहास लेखन की परम्परा शुरू की। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की शुरूअता 19वीं शताब्दी से होती है।

0 0 0 0

हिन्दी साहित्य का इतिहास एक फ्रेंच विद्वान गार्सां द तांसी ने लिखा। 1839 में इसका पहला भाग तथा 1847 में दूसरा भाग प्रकाशित हुआ।

लेकिन इस परम्परा पर विचार करने से पहले साहित्य के प्रति दृष्टिकोण को लेकर जो समस्याएं हैं उन पर विचार करना उचित होगा। मूलत: दो प्रकार की विचारधाराएं हैं। एक विचारधारा का संबंध लगभग मार्क्सवादी प्रवृत्ति से है, जिसमें कहा गया है कि साहित्य भी इतिहास की उपज होता है और

इतिहास ही उसे नष्ट कर देता है। यानी कोई भी साहित्यिक आंदोलन ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियां ही उस आंदोलन को समय के हाशिए में डालकर नयी चेतना और सृजनात्मकता को संभव बनाती है। इसलिए साहित्य को इतिहासबोध के बगैर नहीं पढ़ा जा सकता। अगर कोई भी व्यक्ति बिना इतिहासबोध के मध्यकाल को पढ़ना चाहे तो नहीं पढ़ सकता। मध्यकाल की कविता में जो समाज है, स्त्री पुरुष के जो संबंध हैं, अध्यात्म है, धर्म है, जीवन के प्रति दृष्टिकोण और जीवन की सार्थकता की पहचान है - ये सब एक ऐतिहासिक ढांचे के भीतर समझी जा सकती हैं। इसलिए साहित्य में जो भी नयी प्रवृत्ति विकसित होती है वह ऐतिहासिक दबाव से होती है। वह रचनाकार का निजी मसला नहीं होता और परम्परा की व्याख्या इसमें मार्कसिस्ट ट्रेंड करता है। जो मार्क्सवादी सिद्धांत है - बेस स्ट्रक्चर और सुपर स्ट्रक्चर का, उसमें बेस स्ट्रक्चर आर्थिक संरचना है। अर्थ की संरचना जिस तरह की होगी उसी पर सुपर स्ट्रक्चर खड़ा होगा। धर्म, संस्कृति, भाषा, नियम, कानून, रीति-रिवाज ये सभी आर्थिक संरचना के ऊपर खड़ी होने वाली बाह्य संरचनाएं हैं। इसलिए जब बेस स्ट्रक्चर बदलेगा तो सुपर स्ट्रक्चर में भी बदलाव होगा, आर्थिक संरचना का अर्थ मार्क्स करता है उत्पादन की विधि।

किसी भी समाज की आर्थिक संरचना/उसकी उत्पादक विधि पर निर्भर करती है। इसलिए जितने भी प्रकार के मानवीय व्यवहार हो सकते हैं, उन मानवीय व्यवहारों को संचालित और नियंत्रित करने वाली जो सूक्ष्म ऊर्जा है वह उस समाज के अर्थ तंत्र से निर्मित होती है। जाहिर है कि मार्क्सवाद किसी भी साहित्य के चाहे वह आध्यात्मिक साहित्य ही क्यों न हो, मूलभूत सामाजिक, आर्थिक कारणों को देखता है, समझता है और उसी के संदर्भ में उसको व्याख्यायित करता है। यानी वह मानता है कि इतिहासबोध और ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर से ही साहित्य की समूची प्रक्रिया घटित होती है, विकसित होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का बहुत प्रसिद्ध कथन है किसी भी देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। इसका अर्थ है जनता का मन, जनता के सोचने समझने के तरीके जनता की चेतना। इसलिए साहित्य वैयक्तिक नहीं होता। यह जनता की चित्तवृत्ति का संचित

प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। फिर उन्होंने कहा कि जनता की चित्तवृत्ति बहुत हद तक समाज की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यानी चित्तवृत्ति कोई दैवी वस्तु नहीं है। चित्तवृत्ति बहुत हद तक समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसलिए उसमें बदलाव अनिवार्य है।

इस तरह आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्यिक परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। यानी जनता की चित्तवृत्ति में जो परिवर्तन हो रहा है और साहित्य में जो परिवर्तन हो रहा है – इस परिवर्तन को दिखाना, इस परिवर्तन के संबंध को दिखाना ही साहित्य का इतिहास है। इसलिए प्रकारांतर से साहित्य का इतिहास समाज की परिस्थितियों और रचनात्मकता के बीच के संबंध का इतिहास है।

यूरोप के आधुनिकतावादी चिंतकों की धारणा इससे भिन्न है। उनकी मूल स्थापना यह है कि साहित्य का इतिहास नहीं हो सकता। यह सामाजिक और मार्क्सवादी चिंतन से बिल्कुल विपरीत स्थापना है और उनके कुछ तर्क भी हैं। पहला तर्क तो यह है कि साहित्य अपनी मूल प्रकृति में काल का अतिक्रमण करता है, जब कि इतिहास काल का ही आख्यान है। बाल्मीकि रहे होंगे किसी समय, लेकिन रामायण जनता की मानसिकता में या पाठक की मानसिकता में अभी भी जीवित रह सकता है। भवभूति में जो करुणा है वह काल से बंधी हुई नहीं है। दूसरा तर्क है कि साहित्य की रचना के कुछ अपने निजी नियम विधान होते हैं। दरअसल साहित्य की रचना-प्रक्रिया बहुत संश्लिष्ट होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई घटना घटित हो रही है, उस घटित होती घटना के आधार पर साहित्य लिखा जाता है।

नयी समीक्षा के अनुसार साहित्य रचना के अपने कुछ नियम विधान होते हैं जो ऐतिहासिक परिस्थितियों से स्वतंत्र होते हैं। उदाहरण के लिए 1920 से 1936 के बीच का जो कालखंड है, जिसे हम छायावाद के नाम से जानते हैं, उसके चार बड़े स्तम्भ प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी ये चार तरह से लिख रहे हैं। उसी कालखंड में प्रेमचन्द भी लिख रहे हैं। कामायनी, गोदान और राम की शक्ति पूजा

का प्रकाशन वर्ष लगभग एक ही है 1936। लेकिन तीनों एकदम ही अलग-अलग हैं। प्रेमचन्द जब लिख रहे हैं उसी समय जैनेन्द भी लिख रहे हैं। प्रेम की दुनिया बाहर की दुनिया है और जैनेन्द की दुनिया बिल्कुल मन की दुनिया है। इसलिए हम यह देखना चाहें कि रचना पर एक ऐतिहासिक दबाव होता है तो कई जगह दिखाई पड़ता है कि रचना ऐतिहासिक दबावों या तथ्यों का जो औसतपन है उसका अतिक्रमण कर जाती है।

निर्मल वर्मा का यह मत है कि रचना केवल वही नहीं दिखाती जो जीवन की सतह पर है बल्कि वह जीवन के उन हिस्सों का भी उद्घाटन करती है जो हमारे भीतर अंधेरे में छिपे होते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहासलेखन की परंपरा :

गार्सा द तांसी के इतिहास में हिन्दी और उर्दू के बहुत सारे कवियों का विवरण वर्ण क्रमानुसार दिया गया है। दरअसल उसका महत्व इस बात में है कि इसमें हिन्दी के कवियों का क्रम प्रस्तुत किया गया है। अपनी प्रकृति और प्रभाव में यह सिर्फ इसलिए चर्चा का विषय रहा कि यह हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास है। बाकी इसमें कोई महत्व की चीजें दिखाई नहीं देतीं।

हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास **शिवसिंह सरोज** नाम से 1883 में प्रकाशित हुआ। इसमें एक हजार कवियों के जीवनवृत को संकलित किया गया और साथ-साथ उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास लेखन में शिवसिंह सरोज की सामग्री का कहीं कहीं इस्तेमाल किया है। इस लेखन में जीवनवृत्त पर बहुत बल दिया गया है **यानी कवियों के जीवन का जो इतिहास है उसे विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश शिवसिंह सरोज में की गई** है। लेकिन इस ग्रंथ में विश्वसनीयता का बहुत अभाव है क्योंकि कवियों के जीवनवृत्त में बहुत हद तक सामाजिक किंवदंतियों का सहारा लिया गया है। कोई ऐतिहासिक विश्लेषण या ऐतिहासिक खोज इसमें नहीं की गई है। लेकिन महत्व इस बात में भी है कि पहली बार हिन्दी के एक हजार कवियों का नाम और उनसे कुछ जुड़ी हुई कथाएं एक साथ जुड़ी हुई दिखाई पड़ीं।

तीसरा इतिहास आया **जार्ज ग्रियर्सन** का **'माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान'**। यह ऐशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल का विशेषांक था जिसके अंतर्गत 1888 में इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ था। इस ग्रंथ के बारे में कहा जाता है कि यह हिन्दी साहित्य का विधिवत पहला इतिहास है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के इस इतिहास ग्रंथ से ही अपने ढांचे को ग्रहण किया और उसमें नये तरीके की सामग्री और दृष्टिकोण का समावेश किया। इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएं हैं जिनकी तरफ ध्यान जाता है। पहला तो यह है कि कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया गया है। इसके साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी वर्गीकरण किया और हिन्दी साहित्य के इतिहास को कई कालखंडों में विभक्त किया, जैसे चारणकाव्य। यानी ग्रियर्सन ने यह अनुभव किया कि जो आरंभिक काव्य है वह राजाश्रय का काव्य है। राजाओं के दरबारों में रहने वाले रचनाकारों ने अपने राजाओं की प्रशस्तियां लिखी हैं। **ग्रियर्सन वह पहला इतिहासकार है जो मध्यकालीन काव्य को स्वर्ण युग की संज्ञा देता है**। इससे अनुमान लगता है कि बहुत गहरी और समग्र दृष्टि की शुरूआत ग्रियर्सन के द्वारा हुई और हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द मार्डन वर्नाकुलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान' का स्थायी महत्व है। इसके साथ-साथ ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ में अपनी आधार सामग्री का स्पष्ट उल्लेखन किया जो इतिहास लेखन का एक बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन इसके साथ ही ग्रियर्सन इतिहास-दृष्टि में अनेक कमियां भी मौजूद हैं।

पहली बात तो यह है कि ग्रियर्सन के काल विभाजन में बहुत सारी विसंगतियां हैं। मसलन कि उसने आदिकाल को चारण काल कहा और चारण काल का समय निर्धारण किया छठी शताब्दी। यह वह समय है जब चारणता की कोई प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। अत: काल और साहित्य प्रवृत्ति के बीच जो सीधा और प्रामाणिक संबंध दिखाया जाना चाहिए, ग्रियर्सन उस संबंध को नहीं दिखा पाते।

धार्मिक साहित्य में जो विभिन्न काव्यान्दोलन है, जैसे राम काव्य, कृष्ण काव्य, संत काव्य और उसका सम्यक बंटवारा और पहचान ग्रियर्सन नहीं कर पाये। इसके साथ पूरी की पूरी जो समकालीन स्थितियां चल रही थीं उन पर भी ग्रियर्सन का ध्यान नहीं है और इससे जुड़ी हुई यह बात है कि

साहित्यिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन आ रहा है या साहित्य में जो परिवर्तन घटित हो रहा है उन परिवर्तनों की वजह कहां है, उसका विश्लेषण और पहचान ग्रियर्सन नहीं कर पाये हैं।

भक्ति आन्दोलन की व्याख्या करते हुए ग्रियर्सन ने लिखा कि आन्दोलन भारतीय इतिहास के आकाश में बिजली की कौंध की तरह दिखाई दिया अर्थात् अचानक इतना बड़ा आंदोलन खड़ा हो गया। बाद में चलकर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ग्रियर्सन के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि ग्रियर्सन की आंखों ने बिजली की चमक तो देख ली लेकिन बिजली की इस चमक के साथ भारतीय इतिहास के आकाश में हजारों सालों से जो मेघखंड एकत्रित हो रहे थे, ग्रियर्सन की आंखें उन्हें नहीं देख पाईं। उनका संकेत यह था कि भक्ति आंदोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। अत: एक साहित्य कालखंड के दूसरे साहित्य काल खंड में परिवर्तन के कारण कहां हैं, ग्रियर्सन इसका विवेचन नहीं कर पाते।

गंभीर इतिहास लेखन की दृष्टि से ग्रियर्सन की कुछ अपनी सीमाएं हैं लेकिन इस बात में सन्देह नहीं है कि ग्रियर्सन ने कम से कम अभी तक कथाओं और किंवदंतियों पर और सिर्फ कवियों के नामों और उनके उदाहरणों पर आधारित इतिहास लेखन की जो परम्परा थी, उसको पूरी तरह से बदल दिया। उसे एक ढांचा दिया।

IAS/PCS

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य का चौथा इतिहास आया **'मिश्रबन्धु विनोद'**। यह चार खण्डों में प्रकाशित हुआ। पहले तीन भाग 1913 में आये और चौथा भाग 1934 में प्रकाशित हुआ। भूमिका के अनुसार मिश्रबन्धुओं ने इस इतिहास को एक आदर्श इतिहास बनाने की कोशश की। इसमें पांच हजार कवियों को शामिल किया गया और हिन्दी साहित्य के इतिहास को 8 से अधिक कालखण्डों में विभक्त किया गया। इस इतिहास में कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर भी प्रकाश डाला गया और रचनाकारों के साहित्यिक महत्व की चर्चा की गई। साहित्यिक महत्व की शुरूआत ग्रियर्सन ने कर दी थी। इसी आधार पर उन्होंने **भक्तिकाल को स्वर्णकाल** कहा था। लेकिन यहां कवियों के साहित्य पर भी थोड़ा बहुत विचार किया गया और मिश्रबन्धुओं की दृष्टि पर चूंकि रीतिकाल का बहुत प्रभाव था इसलिए कौन कवि बड़ा है और कौन कवि छोटा है इसका चयन उन्होंने रीतिकाल

में से किया। इस तरह से हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल को केन्द्र में रखने का श्रेय मिश्रबंधुओं को है और इस तरह से तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात उन्होंने किया। लेकिन इन व्यवस्थित प्रमाणों के बावजूद मिश्रबंधुओं के इस इतिहास को इतना भी महत्व नहीं मिला जितना कि ग्रियर्सन के इतिहास को मिला था और उसकी कुछ वजहें हैं।

पहली वजह तो यह है कि इस ग्रंथ में **ऐतिहासिक दृष्टि का ही अभाव** है। इतिहास की परिस्थितियों और रचना के बीच के अनिवार्य संबंध को मिश्रबन्धु नहीं देख पाते। इसके साथ-साथ साहित्य की भाषा और साहित्यिक रूपों में जो बदलाव चल रहा है, उन बदलावों के चिह्न इस इतिहास लेखन में नहीं हैं। तीसरी सीमा यह मानी गई है कि मिश्रबन्धुओं की दृष्टि बहुत हद तक शास्त्रीय है। छंद, अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति ये शास्त्रीयताएं इस इतिहास लेखन पर बहुत हावी हैं और इसलिए रचना और रचनाकारों के ऊपर इतिहास के दबावों का उद्घाटन नहीं हो पाया है। मिश्रबन्धु यह भी बताने में असफल रहे हैं कि एक रचनाकार दूसरे रचनाकार से किन प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ है। इस तरह से एक यादृच्छिकता दिखाई देती है। इन सीमाओं के बावजूद इसका महत्व इस बात में है कि यह बहुत महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है। शुक्ल जी ने कहा कि मैंने अपनी बहुत सारी सामग्री मिश्रबन्धु विनोद से ली है। इस तरह से आधार सामग्री तैयार करने में मिश्रबन्धु विनोद की भूमिका बहुत जरूरी और रेखांकित करने योग्य कही जा सकती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास की पहली विशेषता यह है कि उन्होंने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास क्रम की व्याख्या की। परिस्थिति और साहित्य के बीच के बहुत जटिल और अनिवार्य संबंध को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने इतिहास का निर्माण किया। इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास के जितने भी चरण हैं उन चरणों के ऐतिहासिक कारणों का प्रमाणिक विश्लेषण शुक्ल जी के इस ग्रंथ में दिखलाई देता है। उदाहरण के लिए अपने इतिहास की शुरूआत करते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य को चार कालखंडों में विभाजित किया है। आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल। फिर उन्होंने कहा कि ये कालवाची शब्द हैं, इन कालवाची शब्दों की

कुछ साहित्यिक संज्ञाएं भी हैं। तब उन्होंने आदिकाल को वीरगाथा काल, पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल और आधुनिक काल को गद्यकाल कहा है। यह बहुत सजग विभाजन है।

उन्होंने स्पष्ट करने की कोशिश की कि आदिकाल को वीरगाथा काल क्यों कहा गया है, किस तरह की सामग्री है और सामग्री ऐसी है तो क्यों है ? भक्तिकाल के बारे में उन्होंने कहा कि जब मुसलमानों के द्वारा देश बलाक्रांत हो गया, उनके मंदिर तोड़े जाने लगे, उनके पूज्य देवताओं की मूर्ति सैनिकों के पैरों तले रौंदी जाने लगी, स्थानीय सामंतों और राजाओं का पराभव हो गया तब अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण में जाने के सिवाय और दूसरा रास्ता ही क्या था ? हम उनकी धारणा से सहमत या असहमत हो सकते हैं, लेकिन उन्होंने बताया कि तलवार की झंकारों वाले समय से निकल कर कविता भक्ति के क्षेत्र में क्यों आई ?

दूसरी विशेषता यह है कि कालविभाजन के अंतर्गत हिन्दी साहित्य के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास को उन्होंने चार सुस्पष्ट कालखण्डों में विभक्त किया। ये कालखण्ड हैं वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल या गद्य काल।

इसके साथ एक और विशेषता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की है। उन्होंने कवियों और साहित्यकारों के जीवन संबंधी इतिवृत के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयास किया। इसलिए जीवन संबंधी कथाएं कम हैं। आज रचनाकारों के वही कद हमारे सामने लगभग मौजूद हैं जो शुक्ल जी ने तय किये थे। थोड़ा बहुत परिवर्तन जरूर हुआ। मसलन कि कबीर को लेकर या छायावाद को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की जो समझ थी उसे चुनौती दी गई और उसमें बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ है। इस तरह से शुक्ल जी ने रचनाकारों के साहित्यिक मूल्यांकन की प्रक्रिया का सूत्रपात किया।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपने विषय का पहला ग्रंथ है जिसमें सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से स्पष्ट विवेचन का समावेश किया गया है। इसके साथ-साथ आचार्य ने रीतिकाल की चर्चा को हाशिए में डालकर अपने इस इतिहास ग्रंथ में भक्ति काव्य को स्थापित किया और उन्होंने कहा कि हिन्दी साहित्य

के इतिहास का केन्द्र भक्ति काव्य है, रीतिकाव्य नहीं। भक्ति काव्य को उन्होंने जातीय चेतना का काव्य कहा। एक ऐसी कविता जो संस्कृति की समृद्धि को संभालती है और संस्कृति का विकास करती है। इसलिए जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते हैं उस भारतीय संस्कृति का 80 प्रतिशत हिस्सा वह है जो भक्ति काव्य से संबद्ध है। भारतीय लोकमानस में पूजनीय जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं, वे मर्यादा पुरुषोत्तम तुलसीदास के हैं। संगीत के क्षेत्र में, स्थापत्य के क्षेत्र में, मूर्ति कला के क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवियों का योगदान अप्रतिम है। सूरदास ने अपनी कविताओं में जो कृष्ण की गाथा और जो चित्र बनाए हैं वे चित्र प्रकारांतर से मध्यकाल के बाद जिस भारतीय संस्कृति का निर्माण किया गया उसके निर्णायक और प्रभावकारी चित्र हैं। इसलिए शुक्ल जी ने भाषा, भाव सम्पदा और कला इन तीनों बिन्दुओं पर कहा कि भक्तिकाव्य कालातीत साहित्य है।

शुक्ल जी के इस इतिहास की अंतिम विशेषता यह मानी गई है उसमें तथ्यों पर बल होते हुए भी एक मूल्य दृष्टि की निरंतरता दिखाई देती है और वह मूल्य दृष्टि **लोकमंगल** है। इतिहासकार हो या साहित्यकार हो दोनों के लिए मूल्य दृष्टि अनिवार्य है। इसलिए ई.एच. कार ने अपनी किताब 'वाट इज हिस्ट्री' में यह बहुत महत्वपूर्ण बात कही कि इतिहास को देखने का मसला इससे जुड़ा हुआ है कि हम किस तरह का भविष्य बनाना चाहते हैं। शुक्ल जी कम से कम मुसलमान कवियों को लेकर जितने संवेदनशील और उदार हैं वह अभूतपूर्व है। इसलिए एक मूल्य दृष्टि उन्होंने दी और इस मूल्य दृष्टि के कारण भी इस इतिहास का महत्व मील के पत्थर की तरह है। इसलिए कोई भी इतिहास लेखन शुक्ल जी के महत्व को अस्वीकार नहीं कर पाता।

लेकिन इसके बावजूद शुक्ल जी इतिहास दृष्टि की कुछ सीमाएं भी हैं। पहली सीमा है **प्रामाणिकता का अभाव**। प्रामाणिकता के अभाव के वे चिह्न खासतौर पर, जब हम आदिकाल पर बातचीत करते हैं तब दिखाई देते हैं। आदिकाल को उन्होंने वीरगाथा काल कहा और वीरगाथा काल कहने के लिए जिन 12 ग्रंथों का उल्लेख उन्होंने किया उसमें से अधिकांश रचनाएं या तो अप्राप्य हैं या अप्रमाणिक हैं।

स्वयं शुक्ल जी का अन्तर्विरोध यह है कि रासो काव्यों में पृथ्वीराज रासो जिसे हिन्दी का पहला महाकाव्य कहा जाता है, उस रासो काव्य को शुक्ल जी ने कहा कि यह बिल्कुल जाली है और जब नामकरण करने लगे तो उसको शामिल कर लिया। लेकिन इस बात को भी ध्यान रखने की जरूरत है कि हिन्दी का अधिकांश प्राचीन साहित्य, जब शुक्ल जी इतिहास लिख रहे थे तब लुप्त, अज्ञात और अप्रकाशित था। उसका कोई प्रामाणिक अध्ययन नहीं हो पाया था। इसलिए इतिहास के जिस पक्ष का संबंध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चिंतन और विश्लेषण से था उसे स्थायी महत्व मिला लेकिन जो हिस्सा इतिहास की आधारभूत सामग्री से सम्बद्ध था उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा जिसका परिणाम बाद में चलकर यह हुआ कि नये प्रमाणों के आलोक में उनके निष्कर्ष अमान्य हो गये। बाद में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयासों से हजारों लुप्त-ग्रंथ उपलब्ध हो गये, उनका प्रकाशन भी हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दूसरी सीमा रीतिकाल को लेकर मानी जाती है।

कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि रीतिकाल का नामकरण, सीमा निर्धारण, परम्पराओं और काव्यधाराओं का वर्गीकरण उस काल की संपूर्णता के साथ न्याय नहीं करता। केशव रीतिकाल के श्रेष्ठतम रचनाकार हैं लेकिन शुक्ल जी केशव से रीतिकाल की शुरूआत नहीं मानते। वे चिंतामणि से शुरूआत मानते हैं और इस तरह से वे केशव के साथ अन्याय करते हैं। केशव को उन्होंने अलंकारवादी कहा और एक स्थान पर उन्होंने कहा कि केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं। इस तरह से केशव को अलंकारवादी तथा बाद के कवियों को रसवादी घोषित करते हुए रीति परम्परा के प्रवर्तक पद से केशव को वंचित करना न्यायसंगत नहीं लगता।

इसके साथ-साथ एक और सीमा मानी जाती है कि शुक्ल जी साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्माण में तात्कालिक परिस्थितियों को निर्णायक महत्व देते हैं। जैसे भक्ति आंदोलन के बारे में उन्होंने कहा कि यह मुसलमानों के आक्रमण का परिणाम है। लेकिन उन प्रवृत्तियों के पीछे जो समृद्ध परम्परा है, उन्होंने उसकी लगभग उपेक्षा की। जबकि प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन के पीछे कुछ अदृश्य परम्पराएं भी होती हैं। इसलिए शुक्ल जी पर स्थितियों की तात्कालिकता के अतिरिक्त महत्व देने का आरोप है।

अंतिम आरोप यह लगाया गया है कि आधुनिक काल के साहित्य के साथ उन्होंने न्याय नहीं किया है। आरोप मूलत: यह है कि छायावाद और आधुनिक गद्य रचनाओं के विश्लेषण में गहराई का अभाव है। गद्य रचनाओं पर उन्होंने बहुत कम लिखा जबकि इतिहासकार के नाते यह बहुत जरूरी था कि वे ज्यादा ध्यान आधुनिक रचनाओं के विश्लेषण में लगाते। छायावाद को उन्होंने पश्चिम की और बंगाल की कुछ कविताओं का अनुकरण कहा और उसे रहस्यवाद से जोड़ा। शुक्ल जी में जो गहराई और पकड़ मध्यकाल को लेकर है वह पकड़ और गहराई आधुनिक काल के साहित्य पर नहीं है। यह बहुत गंभीर आरोप है। यह किसी भी इतिहास ग्रंथ की बड़ी सीमा हो सकती है।

लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि शुक्ल जी ने एक एक वाक्य भी अगर लिखा है तो उस वाक्य की व्यंजनाएं बहुत हैं - जैसे निराला के बारे में उन्होंने लिखा कि निराला की प्रतिभा बहुवस्तुस्पर्शनी प्रतिभा है, अनेक दिशाओं में जाती है और अनेक तरह के विषयों का स्पर्श करती है। यह बहुत सकारात्मक और बड़ी टिप्पणी है। कामायनी के बारे में उन्होंने लिखा कि कामायनी में अगर मधुचर्या का अतिरेक न होता तो यह मानवता का बड़ा रूपक होता। यह बहुत महत्वपूर्ण वक्तव्य है।

महादेवी के बारे में उन्होंने कुछेक पंक्तियां लिखी हैं और लिखा है कि गीतकार के रूप में जैसे गीत महादेवी ने लिखे हैं वैसा गीत आधुनिक काल में कोई भी नहीं लिख सका है। यह महादेवी को स्थापित करने वाला वक्तव्य है। इसके बावजूद यह सीमा बताई गई है कि आधुनिक रचना, आधुनिक मनोवृत्तियों और आधुनिक चेतना का प्रतिनिधित्व और उसके साथ न्याय इस इतिहास में नहीं हो पाया है।

आचार्य शुक्ल की इन स्थापनाओं और दृष्टि की प्रतिक्रिया में एक दूसरे इतिहासकार आए **पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी**। यद्यपि द्विवेदी जी ने सुव्यवस्थित इतिहास नहीं लिखा। उन्होंने छात्रों के लिए एक इतिहास लिखा **'हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास'**। लेकिन उनका सबसे चर्चित और महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ है 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' आदि उनकी अन्य पुस्तकें हैं। साहित्य के इतिहास लेखन की एक नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या इन ग्रंथों

में उपलब्ध है। इसलिए बाद में चलकर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहां अपनी ऐतिहासिक दृष्टि में परिस्थितियों को प्रमुखता देते हैं वहीं पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी **परम्परा के महत्व** को रेखांकित करते हुए साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हैं। परम्परा और ऐतिहासिक दृष्टि की टकराहट का सबसे चर्चित संदर्भ है भक्ति आंदोलन। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन को इस्लाम के आक्रमण से जोड़ा था लेकिन परम्परा को महत्व देते हुए भक्ति आंदोलन की भिन्न व्याख्या करते हुए पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा 'भक्ति आंदोलन न तो तद्युगीन पराजित हिन्दी जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं आठवीं शती में जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित थी।'

उन्होंने लिखा ''लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का चारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धार्मिक साहित्य को सांप्रदायिक कहकर साहित्य मानने से इन्कार कर दिया था। उनकी मान्यता थी कि इनमें अपने अपने पंथों के प्रचार और प्रसार का प्रयास किया गया है, इनका कोई साहित्यिक महत्व नहीं है। शुक्ल जी का तर्क यह है कि साहित्य मानवीय जीवन की अनुभूतियों का आख्यान है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस स्थापना और इस सिद्धांत का प्रतिवाद करते हुए लिखा कि धार्मिक होने से किसी भी कृति को साहित्य से बाहर नहीं निकाला जा सकता। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि रसात्मकता साहित्य का अनिवार्य गुण धर्म नहीं है बल्कि प्रतिकार और असहमति साहित्य का गुण-धर्म हो सकता है। इसलिए जो धर्म के पाखण्ड के विरोध में लिखा जाए, जो दलितों को न्याय दिलाने के लिए लिखा जाए, जो मनुष्य की एकता के लिए लिखा जाए, अंधविश्वासों के खण्डन के लिए लिखा जाए, हो सकता है कि रसात्मक न हो लेकिन वह साहित्य हो सकता है।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तर्क दिया कि अगर धार्मिकता के आधार पर आदिकाल की सामग्री को साहित्य से बाहर किया गया तो पूरे भक्ति साहित्य को भी बाहर करना पड़ेगा क्योंकि वह भी धार्मिक साहित्य है और अगर भक्ति काव्य को बाहर कर दिया गया तो हिन्दी में बचेगा क्या ? धार्मिक साहित्य की स्थापना उन्होंने साहित्य के अंतर्गत की और कहा कि आदिकाल के धार्मिक साहित्य को साहित्य की सामग्री मानना चाहिए और यही कारण है कि राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अन्य रचनाकारों ने हिन्दी कविता की परम्परा की शुरूआत सरहपा से मानी। इस तरह से पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने नाथ और सिद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य की अपनी थाती के रूप में स्वीकार किया।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास में सगुण काव्य की तुलना में निर्गुण काव्य के महत्व को रेखांकित किया। कबीर के लिए फिर उन्होंने एक किताब अलग से लिखी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कबीर को कवि मानने से इन्कार कर दिया था। शुक्ल जी ने यह तो जरूर लिखा कि कबीर कवि नहीं थे, उन्हें कविता आती नहीं थी, लेकिन उन्होंने कहा कि निचले तबके की जातियों पर कबीर की कविता का बहुत गहरा प्रभाव है और समाज के निचले तबके की जातियों में आत्मसम्मान जगाकर उन्होंने मानवता का बहुत बड़ा कल्याण किया। लेकिन कबीर को कवि रूप में स्थापित करने का प्रयास और निर्गुण काव्य की जो बड़ी काव्य भूमि है, उसको उद्घाटित करने का बड़ा काम हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। इसलिए शुक्ल जी सगुण रचनाओं के बड़े व्याख्याता माने जाते हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी निर्गुण रचनाओं के या निर्गुण रचनाकारों के। इस तरह से दोनों को मिलाकर हिन्दी साहित्य का एक मुक्कमल वृत्त तैयार होता है।

अंतिम बात यह है कि सूफियों के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि इन पर विदेशी प्रभाव है। अरब और ईरान की मसनवियों का प्रभाव हमारे सूफियों पर दिखाई देता है। पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि जो भारतीय प्रेमाख्यानक हिन्दी सूफी कवि हैं उन पर विदेशी प्रभाव नहीं है। उन्होंने प्रेमाख्यानों के मूल स्रोतों का अनुसंधान करते हुए प्रतिपादित किया कि इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु, कथानक रूढ़ियां, रचना शैली, छंद योजना इत्यादि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित

हैं। यानी इन प्रेमाख्यानों का मूल स्रोत भारतीय परम्परा है, अरब नहीं। उन्होंने इन प्रेमाख्यानों को भारतीय चिंतनधारा और परम्परा की एक बड़ी उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया।

इन लोगों के बाद दो और इतिहास लिखे गये जिनमें **'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'** डा0 रामकुमार वर्मा ने 1935 में और बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रिय शिष्य पं0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने **'हिन्दी साहित्य का अतीत'** दो खंडों में 1945 में लिखा। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की लेखन परम्परा लगभग स्थगित हो जाती है।

कालांतर में नागरी प्रचारिणी सभा ने 'बृहत हिन्दी साहित्य का इतिहास' 17 खंडों में प्रकाशित किया। इसे अलग-अलग लोगों ने लिखा है जिनकी कोई समेकित दृष्टि भी नहीं दिखाई पड़ती। इसलिए सामग्री संचय की दृष्टि से ये किताबें उपयोगी हो सकती हैं, लेकिन ये कोई ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि विकसित नहीं करतीं जिसे हम शुक्ल जी की इतिहास दृष्टि का विकास मान सकें।

बाद में चल कर डा0 रामविलास शर्मा ने आधुनिक काल के दो कालखंडों पर स्वतंत्र रूप से किताबें लिखीं। वे लगभग इतिहास की किताबें हैं उनमें ऐतिहासिक सामग्री भरपूर है। लेकिन उन्हें स्वतंत्र रूप से इतिहास की किताब मानना, कम से कम शुक्ल जी के ढांचे में, संभव नहीं है।

उत्कर्ष क्लासेज IAS/PCS

भारतेन्दु युग पर डा0 रामविलास शर्मा ने दो किताबें लिखीं, एक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' और दूसरी किताब लिखी 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी विकास की परम्परा।' फिर उन्होंने एक किताब महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखी 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण'। इसमें प्रभूत सामग्री है। 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों के बारे में इसमें एक दृष्टि भी है। लेकिन इसे विशुद्ध अर्थ में इतिहास का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। इस तरह से इतिहास लेखन की परम्परा हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद स्थगित हो जाती है। इसके बाद इतिहास लेखन की दृष्टि पर तो बहुत अकादमिक चर्चा हुई लेकिन इतिहास का कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। छोटे-मोटे प्रयास जरूर होते रहे हैं अभी डा0 विजयेन्द्र स्नातक का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ है। बच्चन सिंह

ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' लिखा है। बहुत सारे अन्य लोगों ने भी प्रयास किया है लेकिन उनका कोई महत्व नहीं है।

आदिकाल

आदिकाल की कालावधि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 993 से 1318 ई0 तक के कालखण्ड को आदिकाल कहा है और कारण है कि यद्यपि भाषा की दृष्टि से आदिकाल की सामग्री 8वीं शताब्दी से मिलने लगती है लेकिन वे साहित्यिक रचनाएं नहीं हैं। इसलिए जहां तक हिन्दी भाषा की शुरूआत का प्रश्न है, शुक्ल जी के अनुसार यह 8वीं शताब्दी से शुरू होता है। शुक्ल जी ने अपभ्रंश की रचनाओं को भी ध्यान में रखा है क्योंकि भाषा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने इन्हें अपने इतिहास में स्थान तो दिया है लेकिन साहित्य में नहीं। आगे चलकर आचार्य शुक्ल की उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं की इस धारणा को खारिज किया गया। भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए उनकी चर्चा की गई है। लेकिन इन रचनाओं के आधार पर आचार्य शुक्ल कोई साहित्यिक निर्णय नहीं लेते इसलिए उन्होंने कहा कि रचनाएं साम्प्रदायिक, उपदेशात्मक, साहित्यिकता से रहित हैं और इनका महत्व केवल भाषिक स्तर पर है।

लेकिन बाद में राहुल सांकृत्यायन की खोजों के आधार पर यह मान्यता विकसित और स्वीकृत हुई कि हिन्दी के पहले कवि सरहपा हैं और इनका समय है 760 ईस्वी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी या राहुल सांकृत्यायन ने कहा कि जिसे शुक्ल जी धार्मिक साहित्य कह रहे हैं और अपने इतिहास से बाहर निकाल रहे हैं, उस धार्मिक साहित्य को भी साहित्य मानना पड़ेगा। इसलिए सरहपा जब हिन्दी के पहले कवि स्वीकृत हो गये तो हम आदिकाल की आरंभिक सीमा 8वीं शताब्दी मान सकते हैं। ऐसा शुक्ल जी ने भी माना है लेकिन भाषा की दृष्टि से। इस तरह जो प्रस्थान बिन्दु है वह 8वीं शताब्दी है।

यह इत्तफाक से भी अधिक संयोग है कि यह वही 8वीं शताब्दी है जो शंकराचार्य को पैदा करती है। इसी शंकाराचार्य के अद्वैत वेदांत की प्रतिक्रिया में चार दार्शनिक सम्प्रदाय आये। लेकिन दो का सीधा संबंध हिन्दी साहित्य से है. वे हैं विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत। विशिष्टाद्वैत का सीधा संबंध रामकाव्य से है। विशिष्टाद्वैत दर्शन की परम्परा का संभवत: पहला दर्शन है जो अवतारवाद को स्थापित करता है। रामानुजाचार्य इसके संस्थापक हैं। शंकर का ब्रह्म निर्गुण है. उदासीन है, लेकिन रामानुजाचार्य का ब्रह्म सगुण है, करूणा और दया से भरा हुआ है। धर्म की रक्षा करने वाला है. वह जीवन को संतुलित. संगीतात्मक और मर्यादित करने के लिए अवतार ग्रहण करता है। अवतार के दर्शन या अवतार के तर्क की परम्परा का सूत्रपात उन्होंने नहीं किया. क्योंकि महाभारत में स्वयं कृष्ण अवतार की अवधारणा का सूत्रपात कर चुके थे। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत में उसे एक दार्शनिक आधार दिया। उसी तरह से बल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की अवधारणा विकसित की जिसमें कृष्ण काव्य की रचना हुई। शंकर की शताब्दी 8वीं शताब्दी है और यहीं से हिन्दी साहित्य भी शुरू हो रहा है। इस्लाम के आक्रमण की पृष्ठभूमि तैयार करती हुई यह शताब्दी है। इसके साथ-साथ एक ऐसी शताब्दी है जो भाषा की एक नई दिशा का संकेत करती है।

उस समय तीन भाषाएं दिखाई पड़ रही हैं। एक तो संस्कृत है जो अपनी पूरी गरिमा और ताकत के साथ क्रियाशील है। इस भाषा की ताकत का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि इसी संस्कृत में 8वीं, 9वीं, 10वीं और 11वीं शताब्दी में काव्य शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान पैदा हुए। आनंद वर्धन 'ध्वनि सम्प्रदाय' के प्रवर्तक, राजशेखर, विश्वनाथ और भर्तृहरि जैसे उद्भट विद्वानों का यह कालखंड है। संस्कृत सक्रिय भाषा है, पंडितों की भाषा. विद्वानों की भाषा, शिष्टजनों की भाषा। इसका अर्थ है कि समाज का एक तबका ऐसा है जो बहुत शिष्ट सुसंस्कृत देववाणी के प्रयोग की क्षमता से युक्त है।

लेकिन इसके साथ-साथ एक दूसरी भाषा भी चल रही है, जिसे हम अपभ्रंश के नाम से जानते हैं। यह अपभ्रंश का उत्कर्ष काल है। इसके साथ-साथ एक और भाषा अभी बनने की प्रक्रिया में है जिसे कुछ लोगों ने अवहट्ट कहा है. कुछ लोगों ने पुरानी हिन्दी कहा है। आचार्य शुक्ल ने इसे प्राकृताभास हिन्दी कहा है। देववाणी के समानांतर जो अपभ्रंश भाषा है वह भी बहुत व्यवस्थित हो चली

है. बहुत शिष्ट हो चली है। वह साहित्य की भाषा है और साहित्य की भाषा के समानांतर एक बोलचाल की भाषा भी विकसित हो रही है। यही बोलचाल की भाषा उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी है।

आदिकाल के आरंभिक साहित्य का जहां तक प्रश्न है उसको हम भाषा के आधार पर चिह्नित करते हैं। क्योंकि किसी भी साहित्य की पहचान और विशिष्टता उसकी भाषा के आधार पर ही हो पायेगी। इसलिए अपभ्रंश से भिन्न बोलचाल की भाषा के आधार पर एक नए तरीके का साहित्य भी धीरे-धीरे विकसित होता हुआ दिखाई देता है। जब भाषा बदलती है तो भाषा यों ही नहीं बदलती, भाषा के बदलने का अर्थ सामाजिक संबंधों का बदलाव है। भाषा का बदलाव दरअसल जीवन मूल्यों, जीवन पद्धतियों के बदलाव के अभिलक्षण हैं। यह भीतर से बदलते हुए समाज की अनुगूंज है। तो आदिकाल में भाषा की जो ये तीन प्रकार की परतें दिखाई पड़ रही हैं इसका अर्थ है कि तीन प्रकार के समाज मौजूद हैं। जो क्लैसिकल समाज है, पवित्र, निष्कलंक, शिष्ट उसकी भाषा संस्कृत है।

अपभ्रंश को अमीरों की भाषा कहा जाता है। स्थानीय जमींदार जो राजा हो गये थे और संस्कृत नहीं समझ सकते थे, उन राजाओं की राजभाषा अपभ्रंश थी। इन दोनों प्रकार के राजदरबारों से बाहर जो एक विराट समाज था, उसके लिए जो अब भाषा बन रही थी, उस भाषा की अनेक छवियां और स्थितियां उस भाषा में दिखाई देती हैं जिस भाषा के साहित्य को हम आदिकालीन साहित्य कहते हैं। इन तीन अभिलक्षणों में पहला अभिलक्षण है **तत्सम शब्दों की बहुलता**। अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम था, लगभग नहीं के बराबर था। लेकिन जहां से यह दिखाई पड़ने लगता है कि भाषा तत्सम अधिक प्रवेश करने लगे हैं - जैसे सरहपा की कविता में रवि, शशि, प्रकाश, रात्रि, गृह ये संस्कृत के शब्द हैं। इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ने लगती है। इसलिए जहां पर तत्सम शब्दों की बहुलता का प्रचलन बढ़ता है वहां चिह्नित किया गया कि यह अपभ्रंश से कोई भिन्न भाषा है। अभी इसका कोई रूप नहीं बना है। लेकिन भाषा बदल रही है।

दूसरा चिन्ह लगाया गया **परसर्गों की बहुलता**। परसर्ग का अर्थ होता है - दो वस्तुओं में संबंध बताने वाला चिन्ह। अपभ्रंश में जो परसर्ग थे, वे अलग से नहीं थे। संस्कृत में भी परसर्ग अलग से नहीं

BOOKS.IAS/PCS

होता। जैसे बालकम, बालके, बालकेन। हिन्दी में अलग से लगाया जाता है और यह हिन्दी की बुनियादी पहचान है। इसलिए शब्द में अलग से परसर्ग लगाने की प्रवृत्ति, जो हिन्दी भाषा की अपनी पहचान है, वह दिखाई पड़ने लगती है।

एक तीसरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, जिसे विद्वानों ने **क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण** कहा है। शब्द में क्षति, फिर उसकी पूर्ति। जब पूर्ति होती है तो शब्द बड़ा हो जाता है। दीर्घीकरण का अर्थ आकार से है, जैसे अपभ्रंश में अधिकतर शब्द द्वित्व प्रधान थे। दो संयुक्त अर्थ अपभ्रंश का विशुद्ध शब्द है। इस क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण के नियम के अनुसार जो आधा 'थ' था वह खत्म हो गया और आधा 'थ' की जगह 'ह' में अकार आ गया तो शब्द हो गया हाथ। हथ्थ अपभ्रंश है, हाथ हिन्दी है। तो इस तरह से हाथ, काम आदि शब्दों का जब प्रचलन बढ़ने लगा तब यह महसूस किया गया कि यह भाषा थोड़ी अलग है। इसका बिल्कुल स्पष्ट रूप 12वीं, 13वीं शताब्दी में जाकर निखरता है, लेकिन 8वीं, 9वीं शताब्दी में भाषा में बदलावों के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। इस तरह से आदिकाल की आरंभिक सीमा को सरहपा से मान लिया गया है।

IAS Ph.27655200 · IAS/PCS · 9415948606

आदिकाल की अंतिम सीमा पर खड़े हैं विद्यापति। विद्यापति को आचार्य शुक्ल जी ने फुटकल खाते में रखा है। इसका अर्थ है कि वह भक्तिकाल में नहीं है और आदिकाल में भी नहीं है। लेकिन जो समय शुक्ल जी ने तय किया यानी संवत् 1318, विद्यापति उस समय के बाद के कवि हैं। लेकिन अधिकांश विद्वानों ने कहा कि विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिए। शुक्ल जी ने भी भक्तिकाल में तो रखा नहीं, आदिकाल के परिशिष्ट में डाल दिया। तो विद्यापति को अंतिम कवि माना गया है और विद्यापति का समय 1375 के आसपास है।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ सरहपा से और उसी आदिकाल का अंत विद्यापति जैसे शृंगारिक कवि से होता है। यह हिन्दी जाति और चेतना का वह अन्तर्विरोध है जो इन दोनों कवियों में दिखाई देता है। हिन्दी जाति अन्तर्विरोधों से भरी हुई जाति है। इसलिए हिन्दी जाति का अन्तर्विरोध, भारतीय दर्शन, भारतीय चिंतन और भारतीय मूल्यों का अन्तर्विरोध है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि हमारी

वर्ण-व्यवस्था अद्भुत है कि नीच से नीच समझी जाने वाली जाति भी अपने से नीचे एक जाति का अन्वेषण कर लेती है। सरहपा एक तरह से बज्रयान शाखा के रचनाकार हैं। साधना पर, आध्यात्मिकता पर, संसार की नश्वरता पर बात करते हैं। विद्यापति जो हिन्दी कविता के श्रृंगारिक परम्परा के जयदेव कहे जाते हैं, एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करते हैं जो गुलाबों से भरी हुई है। रामकुमार वर्मा ने कहा कि विद्यापति का समूचा संसार गुलाबों से भरा है और विद्यापति के गुलाबों की दुनिया में कोई काटे नहीं होते। राधा रात भर जागती है और आकांक्षा करती है कि इसक रात की सुबह न हो। ये दो सरहदें हैं जिनके बीच हिन्दी कविता अपनी विकास यात्रा का सोपान तय करती है। इस तरह से 8वीं से 14वीं शताब्दी आदिकाल का समय है।

आदिकालीन परिस्थितियां

उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS/PCS

आदिकालीन समाज का आधार वर्ण-व्यवस्था है। मोटे-तौर पर कह सकते हैं कि जो आदिकाल का समाज है वह **सामंतवादी समाज** है। सामंतवाद के जो अभिलक्षण हैं उन्हें कई संदर्भों में देखा जा सकता है। सामंतवाद का आर्थिक आधार कृषि है तथा सामंतवाद के जीवन मूल्यों को संचालित करने वाली मूल इकाई धर्म है। वहां धर्म जीवन की गति, जीवन की दिशा, जीवन के औचित्य का निर्धारण करता है।

वर्ण-व्यवस्था आदिकालीन समाज का नकारात्मक पक्ष है। इस व्यवस्था ने लड़ने का काम एक को दिया, वाणिज्य का काम एक को दिया, चिंतन और पढ़ाने का या शिक्षा का काम एक को दिया और सेवा का काम एक को दिया और इस तरह से समाज अलग-अलग भागों में खंडित कर दिया गया। इसलिए यह सामाजिक एक्य की चेतना के खिलाफ एक चेतना थी। इसलिए भक्ति आंदोलन सबसे पहले इसी सामाजिक व्यवस्था से टकराता है। यदि आदमी और आदमी के बीच अस्पृश्यता का संबंध बना हुआ है और शूद्र और कोई ब्राह्मण बन कर बैठा हुआ है तो धर्म व्यर्थ है। आदमी की एकता को सम्मानित किए बिना किसी भी धर्म का, किसी भी दर्शन का, किसी भी नैतिक मूल्य का कोई भी अर्थ

नहीं हो सकता। सामंतवाद में स्त्री पुरुष के दंभ का, उसके वर्चस्व का, उसकी क्षमता और मर्दानगी का माध्यम है।

सामंतवाद में स्त्री को कोई स्वाधीनता नहीं है। दरअसल स्त्री की निरंतर पराधीनता ही उसकी पारिवारिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार है। वस्तुतः सामंतवादी व्यवस्था में स्त्री सम्पत्ति का हिस्सा है। वह पुरुष के शौर्य प्रदर्शन का एक बहाना है। इसलिए जिन राजकुमारियों की शादियां बिना युद्ध के या साधारण तरीके से हो जाती थीं, उस राजकुमारी को बिना नमक की सब्जी की तरह देखा जाता था, बिल्कुल फीकी, महत्वहीन। स्त्री का महत्व राजघरानों में इस तरह निर्भर करता था कि कितने युद्धों और हत्याओं के बाद इसे यहां तक पहुंचाया गया है।

सामंतवाद अपनी इन तमाम विशेषताओं के साथ एक और विशेषता रखता है और वह **मूल्यों की अतार्किकता।** इसलिए अच्छा और बुरा, पाप और पुण्य, करणीय और अकरणीय यह बहुत स्थिर है। नियति का, भाग्यवाद का, उस सामाजिक परिवेश में बहुत जोर है। इन सामाजिक परिस्थितियों से आदिकाल का मन तैयार हुआ है।

उत्कर्ष क्लासेज IAS Ph. 27659[illegible] 9368448606 IAS/PCS

आदिकाल के धार्मिक परिवेश में धर्म अपनी धुरी से नीचे उतर गया है। धर्म के जितने उत्स थे वे सभी विकृत हो गये हैं। जो सनातन धर्म है इसमें दो तीन मुख्य धाराएं हैं जैसे वैष्णव, शाक्त और शैव। इनका तप लगभग खत्म हो गया है। कर्मकाण्ड की प्रधानता वैष्णव धर्म में बहुत ज्यादा है। बाद में इस वैष्णव धर्म को मानवीय आधार देने का काम भक्ति आंदोलन ने किया। वैष्णव कर्म काण्ड के जिस स्तर पर जी रहा है, वैसा ही कर्मकाण्ड बौद्ध धर्म में भी है। जीवन के सदाचार और कर्मकाण्डहीनता को और करूणा को बुद्ध ने धर्म की शाश्वत परिभाषा कहा था। लेकिन यही धर्म अपनी धुरी से टूट कर कर्मकाण्ड के पर्याय के रूप में विकसित हो गया। हीनयान और महायान के रूप में आरंभ में विभाजन हुआ और महायान की कई शाखाएं आई जिसमें वज्रयान बहुत प्रसिद्ध शाखा है। वज्रयान में तंत्रवाद एवं जादू-टोटकावाद बहुत फैला।

इस प्रकार बौद्ध धर्म की मूल चेतना विलुप्त हो गई थी। बौद्ध विहारों में व्यभिचार का आतंक था। कर्मकाण्ड के स्तर पर जैन धर्म बहुत सुरक्षित था। पवित्रता को बहुत महत्व दिया जा रहा था। लेकिन पवित्रता जीने की चीज नहीं थी बरतने की चीज थी। इस तरह से जैन धर्म प्रकारांतर से आत्म-पीड़न के पर्याय के रूप में विकसित हो रहा था। इसलिए महावीर ने जो कहा था उसके अंधानुकरण की प्रवृति शुरू हुई।

राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह राजनैतिक अस्थिरता का काल है। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद अखिल भारतीयता की चेतना का विलुप्तीकरण शुरू होता है। राष्ट्र की अवधारणा उस समय नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद हर्षवर्धन तक एक समग्रता का बोध बना हुआ था। किन्तु हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद केन्द्र के कमजोर हो जाने की वजह से भीतरी विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है और साथ-साथ सीमांतों पर आक्रमण की प्रक्रिया भी। इसलिए बाहरी आक्रमणों और आंतरिक महत्वाकाक्षाओं के द्वन्द्व के कारण देश की राजनीतिक संरचना चरमराती है। एक व्यापक और समग्र राजनीतिक चेतना का अभाव इस कालखंड में स्पष्टतः दिखाई देता है। देश की आंतरिकता के स्तर पर पूरा देश छोटे-छोटे युद्धों से ग्रस्त हुआ दिखाई पड़ता है।

IAS PLOT 165-2400-IAS/PCS

इसलिए एक समग्र राजनीतिक दृष्टि से आदिकाल घोर विपन्नता का काल है। इसी कालखंड में इस्लाम आता है और स्थापित होता है। इसके बहुत दूरगामी परिणाम और प्रभाव हमें समाज पर, कलाओं पर, साहित्य पर और मूल्यों पर दिखाई देते हैं।

इस्लाम के आगमन के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर इतिहास के उस कालखंड में इस देश ने एक अभूतपूर्व तनाव का सामना किया लेकिन धीरे धीरे समाहिति की प्रक्रिया चलती है और इस्लाम अनेक स्तरों पर और अनेक क्षेत्रों में, जिसे भारतीय हिन्दू संस्कृति कहते हैं, उस पर अपना बहुत गहरा प्रभाव डालता है।

आदिकाल में इस्लाम और हिन्दुत्व के एकीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुयी उसकी परिणति आगे चलकर सूफी काव्य में हुई, जिसे शुक्ल जी ने प्रेमाश्रय काव्य कहा है। स्थापत्य, खान-पान में,

रहन-सहन में बहुत सारी चीजें लेकर इस्लाम आया था और वे सारी चीजें धीरे धीरे हमारे जीवन में समाहित हुई क्योंकि इस्लाम एक स्तर पर शासक का धर्म भी था।

एक तरह से हिन्दू जाति के मानसिक आयतन को बढ़ाने में इस्लाम की भूमिका ऐतिहासिक सिद्ध हुई। इस प्रकार जिन राजनीतिक स्थितियों के साथ यह युग शुरू होता है उसमें आरंभिक स्तर पर बहुत कोलाहल है, तनाव है, सामाजिक राजनीतिक तनाव है, लेकिन धीरे धीरे इस्लामी सत्ता की स्थापना के साथ-साथ ये जो आंतरिक युद्ध की स्थितियां हैं, वह कमतर होने लगती हैं और सामाजिक तनाव भी धीरे-धीरे सीमित होता है। यह प्रक्रिया ही अन्ततः हिन्दी कविता को भक्तिकाल के मुहाने तक पहुंचाती है।

जहां तक साहित्य, कला और संस्कृति का प्रश्न है तो जाहिर है इन सबका प्रभाव पड़ता है आदमी के चिंतन और कविता पर भी। जो संक्रमण का दौर है वह कला और रचनात्मकता के स्तर पर बहुत उर्वर हुआ करता है। सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर जितना बड़ा संघर्ष होगा उतनी ही बड़ी कला और उतना ही बड़ा मनुष्य भी पैदा होगा।

IAS PCS 7659 IAS/PCS

यह काव्यशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में उपलब्धियों का कालखंड है। संस्कृत के क्षेत्र में आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, राजशेखर जैसे महान काव्यशास्त्री पैदा हुए। स्थापत्य के क्षेत्र में विस्मयकारी विकास का दौर है। कोणार्क, खजुराहो और माउंट आबू के जैन मंदिर इसी दौर के ढांचे में निर्मित हुए। संगीत के क्षेत्र में अनेक राग-रागनियों में इस्लाम के प्रभाव से संगीत की धाराओं व वाद्य यंत्रों का निर्माण इस कालखंड में हुआ। अपभ्रंश और संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ इस कालखंड में लिखे गये। अपभ्रंश के वाल्मीकि कहे जाने वाले स्वयंभू की रचना का काल भी यही है। इस तरह से आदिकाल का यह परिवेश अपनी गति में, अपनी सृजनात्मकता में अभूतपूर्व कहा जा सकता है। इसी परिवेश के भीतर आदिकाल की समूची सामग्री का निर्माण हुआ है।

आदिकाल की जो रचना सामग्री है उसे मोटे तौर पर तीन क्षेत्रों में बांटा जा सकता है - पहला धार्मिक साहित्य जिसके अंतर्गत सिद्ध, नाथ और जैनियों का साहित्य आता है। दूसरा राजाश्रित साहित्य

जिसे हम रासो काव्य भी कह सकते हैं। और तीसरा **लोक काव्य** जिसे लोकाश्रित काव्य भी कह सकते हैं, जिसका धर्म और राजदरबार से कुछ लेना देना नहीं था, जो जनता के बीच और जनता की बोली बानियों और परिस्थितियों के संदर्भ में लिखा गया था। संदेश रासक, बंसत विलास, ढोला मारू रा दोहा, विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की पहेलियां-मुकरियां, इन सभी को लोक साहित्य के अंतर्गत ले लिया जाता है। ये तीन प्रकार की सामग्री इस युग परिवेश के भीतर निर्मित हुई हैं।

आदिकाल का नामकरण

आदिकाल के नामकरण को लेकर बहुत विवाद है। इस विवाद के अनेक कारण हो सकते हैं। विवाद का एक कारण यह है कि आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के प्रति अलग-अलग इतिहासकारों की अलग-अलग समझ है। एक कारण यह हो सकता है कि यह साहित्य का ही नहीं बल्कि इतिहास का भी बहुत संक्रमित काल है। सामाजिक संरचनाओं में एक हलचल दिखाई दे रही है - इसलिए जो मूल्यों और जीवन पद्धतियों की स्थिरता है, उसमें टूट फूट की प्रक्रिया है।

सामाजिक जीवन की अस्थिरता के कारण रचनाओं के भीतर अन्तर्विरोधी चेतना है। उन अन्तर्विरोधों के कारण भी नामकरण पर सहमति नहीं हो पाती। जैसे एक इतिहासकार देखता है - युद्ध काव्यों की बहुलता है। दूसरा देखता है कि धार्मिक काव्यों की बहुलता है। तीसरा देखता है कि एक नयी प्रकार की लोक चेतना का बहुत गहरा प्रभाव इस समय पर है तो किसे केन्द्रीय मानें। इसको लेकर विवाद हो सकते हैं। नामकरण के विवाद का प्रश्न इस अनिर्दिष्टता से भी जुड़ा हुआ है।

इस विवाद का एक और भी कारण हो सकता है कि आदिकाल की **रचना सामग्री** को लेकर बहुत मतभेद हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन रचनाओं को लेकर इस काल का नामकरण किया था बाद में पता चला कि उनमें से अधिकांश रचनाएं या तो अनुपलब्ध हैं या बाद की हैं। अत: इस कालखंड की **रचना सामग्री में प्रामाणिकता का अभाव** है।

अधिकांश रासो साहित्य के संबंध में काव्यभाषा की दृष्टि से बाद में पता चला कि 14वीं शताब्दी के बाद लिखे गये हैं। जो भी प्रामाणिक प्रतियां उपलब्ध हैं उनमें कोई भी 10वीं शताब्दी की

नहीं है। इन्हें आचार्य शुक्ल 10वीं-11वीं शताब्दी का मान रहे थे। ये कुछ कारण हैं जो आदिकाल के नामकरण को विवादास्पद बना देते हैं।

आदिकाल के नामकरण का पहला प्रयास हिन्दी साहित्य के इतिहास में जार्ज ग्रियर्सन ने किया। ग्रियर्सन विशेष तौर पर राजस्थानी साहित्य के बहुत मर्मज्ञ विद्वान हैं और ग्रियर्सन ने राजस्थान में लिखे गये वीर काव्यों को बहुत प्रमुखता दी। इस आधार पर उन्होंने इसे चारण काव्य कहा। यानी इस युग का पूरा साहित्य राजाश्रय में लिखा गया साहित्य है। राजाश्रय में लिखे गये इस साहित्य के केन्द्र में आश्रयदाता हैं। इसमें उस आश्रयदाता के वैभव का, उसकी विलासप्रियता का, उसकी वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। इसलिए ग्रियर्सन ने कहा कि यह चारण काल है।

ग्रियर्सन की यह मान्यता स्वीकृत नहीं हो पायी। इसका कारण ग्रियर्सन की स्थापनाओं के अन्तर्विरोध में है। ग्रियर्सन आदिकाल को चारण काल कहते हैं और इसकी समय सीमा 7वीं शताब्दी से आरम्भ करते हैं। इस शताब्दी में कोई चारण काव्य नहीं है, एक भी ऐसा हिन्दी का ग्रंथ नहीं है जिसे 7वीं शताब्दी में लिखा गया हो। अगर वह मिलता भी है तो 11वीं शताब्दी के आसपास मिलता है। इसलिए ग्रियर्सन जिस साहित्यिक कालखंड को चारण काल कह रहे हैं कि उस कालखंड में चारणता से संबंधित कोई रचना नहीं है।

उत्कर्ष क्लासेज IAS 100·IAS/PCS·9654844806

इस तरह से काल, सीमा और साहित्यिक प्रवृति के बीच कोई संतुलन और सामंजस्य ग्रियर्सन नहीं बैठाते हैं। एक तो इस नामकरण की सीमा यही है कि स्वयं ग्रियर्सन जो काल सीमा निर्धारित करते हैं उस काल सीमा में किसी भी चारण रचना का उल्लेख वे नहीं कर पाते।

दूसरी, बाद में चलकर जो स्थिति विकसित हुई कि इस कालखंड में जो रचना सामग्री है वह सिर्फ रासो काव्य नहीं है, उसमें धार्मिक साहित्य है, उसमें अमीर खुसरो हैं, उसमें विद्यापति हैं और कई लोक साहित्य हैं और कई ऐसे रासो काव्य हैं जिनका संबंध चारणता से नहीं है, जैसे बीसलदेव रासो। इसलिए इस युग की लोक चेतना को आच्छादित करने में यह नाम अपर्याप्त है। इस नाम से इस युग

की सभी काव्य प्रवृतियों और जनता की चित्तवृतियों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। इसलिए इतिहासकारों ने इस नाम को अपर्याप्त मानते हुए छोड़ दिया।

नामकरण का दूसरा प्रयास मिश्रबन्धुओं ने किया और उन्होंने आदिकाल को 'प्रारम्भिक काल' कहा।

प्रारम्भ और आदि ये एक ही अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द हैं। इसलिए प्रारम्भिक काल आदिकाल से भिन्न कोई अर्थ नहीं देता। अत: इस नामकरण का औचित्य अपने आप खारिज हो जाता है। दरअसल जो प्रारंभिक और आदि है उसमें आदि अधिक सटीक नाम हो सकता है। आदि में जो परम्परा के प्रवाह का बीज तत्व है वह मौजूद रह सकता है, जैसे हम कहे हैं कि हमारे आदि पूर्वज हमारा आदि ग्रंथ। लेकिन प्रारंभिक काल में वह अर्थ विस्तार नहीं है। अत: उसे इसलिए खारिज करना पड़ा क्योंकि एक तो वह आदि का पर्यायवाची है और दूसरे प्रारंभिक काल की तुलना में आदि शब्द में अधिक अर्थ विस्तार की सम्भावनाएं हैं। साथ ही यह नाम किसी प्रवृति की तरफ संकेत नहीं करता। साहित्य में जब भी नामकरण किया जाता है तो उस नामकरण को उस युग की साहित्यिक प्रवृतियों की तरफ भी संकेत करना चाहिए, जो यह नाम नहीं करता।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के वास्तविक-प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल के लिए सर्वथा नया नाम लेकर आए - वीरगाथाकाल। बहुत समय तक यह नाम स्वीकृत रहा। लेकिन बाद में चलकर पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल की सामग्री पर अलग से प्रकाश डाला और आदिकाल पर संपूर्णता से बहस शुरू हुई। रचनाओं की प्रामाणिकता और उपलब्धता मुद्दे बने। तब से इस नामकरण की स्वीकृति कम होने लगी और आज की तारीख में वीरगाथा काल नाम आदिकाल के लिए स्वीकृत नहीं है।

लेकिन हम पहले यह देखने की कोशिश करेंगे कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किन आधारों पर इस कालखंड का नाम वीरगाथा काल किया। शुक्ल जी जैसा बेहद चौकन्ना, सजगह, जवाबदेहियों से भरा हुआ इतिहासकार क्यों इस तरह का नामकरण करता है ? जबकि शुक्ल जी जानते थे कि एक

तरफ लोक साहित्य है और दूसरी तरफ धार्मिक साहित्य भी है और जितने ग्रंथ रासो काव्य हैं वे सभी वीर काव्य नहीं हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने वीरगाथा काल कहा। इसलिए जाहिर है कि शुक्ल जी के पास कुछ न कुछ तर्क रहा होगा।

आचार्य शुक्ल का पहला तर्क तो यह है कि यद्यपि हिन्दी साहित्य का आरंभ 8वीं शताब्दी से हो जाता है लेकिन 8वीं से लेकर 10वीं शताब्दी तक साहित्य की कोई निर्दिष्ट प्रवृत्ति या धारा नहीं दिखाई देती। इन आरंभिक 200 वर्षों के भीतर कई प्रकार की रचनाएं मिलती है, कुछ धार्मिक रचनाएं मिलती हैं, कुछ नीतिपरक रचनाएं मिलती हैं, कुछ शृंगारिक रचनाएं मिलती हैं। लेकिन इन रचनाओं से किसी साहित्य की निर्दिष्ट प्रवृत्ति का पता नहीं चलता। इसलिए जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब हम रचना को एक विशिष्ट दिशा में गठित होते हुए महसूस करते हैं और वह दिशा रासो काव्यों की है।

इस प्रकार एक तर्क तो उनका यह है कि हम आरंभिक 200 वर्षों को इसलिए शामिल नहीं कर सकते क्योंकि न तो कोई दिशा है, न प्रवृत्ति है, न उसकी पहचान बन पाती है। दूसरा तर्क उनका था कि धार्मिक रचनाओं को शामिल करके कम-से-कम साहित्यिक इतिहास में कालखंड का नामकरण नहीं किया जा सकता।

धार्मिक रचना और साहित्य में आचार्य शुक्ल ने फर्क किया और उन धार्मिक रचनाओं के बारे में उन्होंने कहा कि ये रचनाएं साम्प्रदायिक प्रचार के लिए लिखी गई रचनाएं हैं। इन रचनाओं में मनुष्य का हृदय और जीवन की अनुभूतिपरक प्रसंगों का अभाव है। इसलिए जो प्रचार मात्र है वह साहित्य नहीं हो सकता और जो साहित्य नहीं हो सकता, नामकरण के लिए उसका आधार लेने का कोई कारण नहीं रह जाता। इसलिए आचार्य शुक्ल यह जानते थे कि धार्मिक साहित्य की एक धारा है, लेकिन वे उसे नामकरण के आधार के रूप में स्वीकृत नहीं करते। उन्होंने आदिकाल की 12 रचनाओं - खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, विजयपाल रासो, परमाल रासो, जयचंद प्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका,

खुसरो की पहलेलियां, विद्यापति की पदावली, हमीर रासो, कीर्ति लता और कीर्ति पताका को नामकरण का आधार बनाया। इन 12 ग्रंथों में रासो ग्रंथों की बहुलता है।

शुक्ल जी ने यह तर्क दिया कि रासो ग्रंथों की प्रचुरता उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है और लोकप्रियता किसी भी समाज की लोक प्रवृति को प्रतीकित करती है। यानी उन्होंने इस संदर्भ में दो तर्क दिए, प्रचुरता और लोकप्रियता। रासो काव्य अधिकतर श्रृंगार और युद्ध पर आधारित कृतियां हैं। इसलिए युद्ध की लोकप्रियता या युद्ध की मानसिकता उस पूरे समाज में मौजूद है। इसलिए रासो काव्य उस युग के मानस का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर उन्होंने यह तर्क दिया कि युद्ध उस समय के समाज और इतिहास का सच भी है इसलिए सामाजिक-ऐतिहासिक सच रचनाओं की प्रचुरता यानी रासो काव्यों की प्रचुरता, उसकी लोकप्रियता और लोक स्वीकृति ये सब मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि आदिकाल इस काल को प्रामाणिक और प्रतिनिधि काव्यधारा है वह रासो काव्य है। और रासो काव्य का विषय चूंकि वीरता है, इसलिए इस काल को वीरगाथा काल कहा जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तर्क पद्धति का जहां तक प्रश्न है उससे असहमति का कोई कारण नहीं दिखाई देता, लेकिन इसके बावजूद इस नामकरण की सीमाएं हैं।

उत्कर्ष क्लासेज (प्रा.लि.) IAS 9868440606 400-IAS/PCS-

असहमति का पहला बिन्दु तो यह है कि धार्मिक रचनाओं को छोड़ कर इस युग का नामकरण औचित्य पूर्ण नहीं नहीं हो सकता। धर्म के आधार पर किसी भी रचना को साहित्य की बिरादरी से बाहर नहीं निकाला जा सकता। धर्म, नीति और उपदेश इन पर आधारित रचनाएं भी साहित्यिक हो सकती है। जैसे रहीम ने जो नीतिपरक दोहे लिखे हैं उन्हें हम कहां ले जाएंगे वह हमारी साहित्यिक सम्पदा है।

अत: पहली सीमा यह बताई गई कि वीरगाथाकाल नाम अपने समय की बहुत महत्वपूर्ण रचना सामग्री की उपेक्षा करता है। दूसरी सीमा यह बताई गई कि वीरगाथा काल नामकरण जिन रचनाओं के आधार पर किया गया है प्राय: ये सभी रचनाएं या तो अप्रमाणिक हैं या परवर्ती हैं।

जयचंद प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। ये रचनाएं अनुपलब्ध हैं। खुमान रासो की एक-आध पंक्तियाँ कहीं उद्धृत की गई हैं, ग्रंथ अनुपलब्ध है। हमीर रासो

उपलब्ध नहीं है। कीर्ति लता और कीर्ति पताका अवहट्ट की रचनाएं हैं। विद्यापति पदावली का संबंध वीरता से नहीं है। अमीर खुसरो की पहेलियों का संबंध वीरता से नहीं है और जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे परवर्ती हैं।

अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तर्क पद्धति के प्रति पूरा सम्मान होते हुए भी सामग्री की उपलब्धता के आधार पर और प्रवृतियों की निरंतरता के आधार पर इस समय को आदिकाल कहना अधिक तर्कसंगत और युक्तिसंगत है।

आदिकाल की प्रवृत्तियां

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) IAS IAS/PCS

1. विविध और परस्पर विरोधी काव्य प्रवृतियों का समाहार

आदिकाल की पहली प्रवृति जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह है विविध और परस्पर विरोधी काव्यप्रवृतियों का समाहार। हम कह सकते हैं कि अन्तर्विरोधी चेतना से युक्त रचनात्मकता आदिकाल में दिखाई देती है। इसका कारण तत्कालीन परिवेश है।

आदिकाल की कविता एक ऐसे परिवेश की उपज है जिसे इतिहास की शब्दावली में संक्रमण का काल कहा जा सकता है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से संक्रमण और अनिश्चय का काल है। केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था क्रमशः छोटे राज्यों और जमींदारियों में विभाजन, सामाजिक और धार्मिक स्तर पर सर्वानुभूति की चेतना का अभाव इस संक्रमण के प्रमाण हैं। यह संक्रमण इस युग की रचना सामग्री में एक प्रकार का अन्तर्विरोध पैदा करता है। इस युग से बाहर निकल कर भी हम इतिहास में देख सकते हैं कि जब जब कोई भी समाज संक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता है तो उस समाज की चेतना और उस साहित्य की चेतना अन्तर्विरोधों से ग्रस्त दिखाई देती है। उदाहरण के लिए हम आधुनिक युग के भारतेन्दु-युग को देख सकते हैं।

परिवेशगत संक्रमणशीलता के कारण ही आदिकाल की रचना सामग्री में अनेक प्रकार की प्रवृतियां दिखाई देती हैं। जो एक दूसरे से टकराती हुई विकसित हाती हैं। एक तरफ धार्मिक साहित्य है

और दूसरी तरफ राजाश्रित साहित्य। धार्मिक साहित्य में जीवन की ऐहिकता के प्रति, भोगवाद के प्रति, सांसारिकता के प्रति विरक्ति का भाव है तो राजाश्रित साहित्य में ऐहिकता के प्रति एक दुर्निवार आकर्षण दिखाई देता है। एक तरफ राजदरबारों का वैभव है और दूसरी तरफ लोक साहित्य है जिसमें औसत और आम आदमी की जीवन परिस्थितियों की गाथाएं मौजूद हैं। इसलिए राज और लोक का भी अन्तर्विरोध है। इस तरह से अलग-अलग वर्ग अलग-अलग जीवन परिस्थितियों, जिंदगी के प्रति अलग-अलग समझ से भरा हुआ आदिकाल का साहित्य है जिसमें एक संबंध तो दिखाई देता है लेकिन यह अंतर्विरोधों का संबंध है, सहमतियों का नहीं।

आदिकाल की जो पूरी सामग्री है उसमें एक तरफ स्त्री सभी प्रकार से कैद है और दूसरी तरफ उसी कालखंड में विद्यापति हैं जिनकी राधा प्रेम की अनुभूति और प्रेम की चेतना के प्रतीक के रूप में विकसित हो जाती है। कई तरह की सोच और प्रवृतियां इस कालखंड में दिखाई देती हैं। इन्हीं विविधताओं के आधार पर और विविधताओं में निहित अन्तर्विरोधों के आधार पर इस कालखंड की प्रवृतियों को एक सूत्र में नहीं बांधा जा सकता। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि यह स्वतोव्याघात का युग है यानी स्वयं ही अपनी मान्यताओं पर प्रहार करने वाला। इसलिए इन आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्विरोध, विविधता और व्यापकता इस युग की एक विशेषता और प्रवृति भी है। यही अन्तर्विरोध, विविधता और व्यापकता इस युग की एक विशेषता और प्रवृति भी है। यह अन्तर्विरोध और वैविध्य हिन्दी कविता की अपनी पहचान बनती है।

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph-7650400-IAS/PCS-9084486606

2. सामंती जीवन मूल्यों की प्रबलता

सामंती जीवन मूल्यों की प्रबलता इस युग की दूसरी रचना प्रवृति कही जा सकती है। इस युग का सारा साहित्य चाहे वह धार्मिक साहित्य हो या राजाश्रय में लिखा गया साहित्य या लौकिक साहित्य हो, सामंती जीवन मूल्यों की छांह में विकसित हुआ है। धर्म, ऐहिकता और स्त्री के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रचना की दुनिया में सामंतवाद के मूल आधार कहे जा सकते हैं।

धर्म के आधार पर या धार्मिक साहित्य के आधार पर, ऐहिक जीवन मूल्यों के आधार पर और स्त्री के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर हम आदिकाल एवं सामंती परिवेश के रिश्ते को परख सकते हैं। सामंतवाद में धर्म चेतना की वस्तु नहीं है बल्कि उसका बहुत गहरा संबंध सामाजिक जीवन पद्धति, रीति रिवाज और नैतिक मूल्य विधान से है। यह जीने का एक ढंग है, रीति रिवाज है, कुछ विश्वास हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि वह समाज को एक नैतिक संहिता प्रदान करता है। नैतिक संहिता सामंतवाद में हमेशा धर्म तय करता है।

हम देख सकते हैं कि आदिकाल की जो धार्मिक सामग्री है इसमें कई प्रकार की सामग्री है। एक तरफ सिद्ध हैं, दूसरी तरफ जैनी हैं और तीसरी तरफ नाथ हैं। तीन प्रकार की साहित्यिक सामग्री साफ तौर पर देखी जा सकती है। सिद्धों का जो साहित्य है वह बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार के लिए लिखा गया है। इस साहित्य में उपदेशात्मकता के साथ-साथ कई अन्य धार्मिक कृतियों या अनुष्ठानों का जिक्र किया गया है जिनका सीधा संबंध गुह्य साधना से या तंत्र साधना से है। इनकी रचनाओं में वर्ण व्यवस्था का विरोध और धर्म के बाहरी और कर्मकाण्डी तत्वों का भी विरोध दिखाई देता है।

9711403400-IAS/PCS-98

दूसरी तरफ जैन साहित्य है। जैन रचनाएं जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित्र के साथ-साथ वैष्णव अवतार की कथाओं को जैन आदर्शों में पद्यबद्ध करती हैं। कई कथाएं ऐसी हैं जिनमें राम जैन धर्म में दीक्षित होते हैं और जैन धर्म में दीक्षित हो करक अपनी मुक्ति प्राप्त करते हैं या सार्थकता प्राप्त करते हैं।

तीसरी धारा नाथ साहित्य की है। नाथ सम्प्रदाय सिद्धों की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ। गोरखनाथ इस संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। सिद्धों के व्यभिचार, जादू टोनावाद और तंत्रवाद के खिलाफ यह सम्प्रदाय आया और इस संप्रदाय ने साधना की पवित्रता पर बल दिया। सिद्धों के पंचमकारों मत्स्य, मदिरा, मांस, मैथुन व मुद्रा की आनुष्ठानिक पद्धति के कारण धर्म के नाम पर जो भोग-विलास और व्यभिचार की प्रवृति विकसित हुई थी, नाथ संप्रदाय उसी की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ और उसने

आचरण और शरीर की पवित्रता पर अतिरिक्त बल दिया। उपेशात्मकता और खण्डन मण्डन की प्रधानता इस सम्प्रदाय के साहित्य की विशेषता कही जा सकती है। पातंजलि के राजयोग के स्थान पर नाथ पंथ में हठयोग की पद्धति की शुरूआत की गई।

इस प्रकार इस युग का जो पूरा धार्मिक साहित्य है उसमें एक समानता दिखाई देती है। वह समानता यह है कि इसकी धार्मिकता का आधार बहुत हद तक अनुष्ठानात्मक है। यह अनुष्ठान जैनियों के यहां, सिद्धों के यहां, नाथों के यहां दिखाई देता है। धर्म की अनुष्ठानिकता का बहुत गहरा संबंध सामंतवाद से है। सामंतवाद धर्म को अनुष्ठानिक आधार देता है और पूंजीवाद धर्म को व्यावसायिक आधार देता है. दोनों में यही फर्क है।

इस प्रकार अगर हम यह कहें कि सामंती परिवेश की प्रबलता आदिकाल में है तो इसका कारण यह है कि आदिकाल की साहित्यिक सामग्री का एक बड़ा भाग धर्म से है और धर्म की प्रकृति अनुष्ठानात्मक है। आदिकाल की जो धार्मिक सामग्री है वैसी ही भक्तिकाल की नहीं है। भक्तिकाल अनुष्ठानों के समूचे तंत्र को खत्म कर देता है। शुक्ल जी ने लिखा कि भक्तिकाव्य धर्म के रसात्मक तत्व को ग्रहण करता है। धर्म का रसात्मक रूप ही भक्ति है। सामंतवाद में धर्म रस का नहीं अनुष्ठान का विषय है। धर्म में जितनी अनुष्ठानपरक स्थितियां दिखाई पड़ती हैं वे सब सामंती समाज और सामंती विश्वासों की कोख से पैदा हुई है।

उत्कर्ष क्लासेज IAS 100-IAS/PCS-9808441906

सामंती जीवन मूल्यों की प्रबलता का दूसरा प्रमाण आदिकालीन साहित्य की ऐहिकता है। देह और भौतिक सुखों के प्रति एक गहरा रागात्मक रिश्ता ऐहिकता का मूल आधार है। आदिकालीन साहित्य में जो राजाश्रित हिस्सा है, उसमें ऐहिकता के प्रति इस अकुण्ठ दृष्टिकोण को देखा जा सकता है।

आदिकाल की ऐहिकता की अभिव्यक्ति के दो धरातल हैं, दो दिशाएं हैं जो परस्पर संबद्ध हैं - वे हैं **वीरता और** शृंगार। अपनी ताकत के आधार पर अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश और सौंदर्य को हस्तगत करने की स्पृहा यहां दिखाई देती है। सुख, वैभव, विलास वे सामग्री हैं जो रासो साहित्य का निर्माण कराती है। साहित्य में युद्ध है और राजाओं की शृंगार प्रियता है। शायद यही कारण

है कि आगे चलकर कबीर ने नश्वरता की चर्चा बार बार की। उस चर्चा का मूल कारण शायद वह चेतावनी थी, जो भोग और विलास और सौन्दर्य में डूबे हुए लोगों की वास्तविकता का भान कराना चाहती थी। जो ऐहिकता की सघनता दिखाई पड़ती है आदिकाल में उस ऐहिकता की नींद को तोड़ने का काम भक्तिकाल करता है। इसलिए सामंती परिवेश का दूसरा आधार कि ऐहिकता किस रूप में दिखाई दती है, जैसे युद्धों की संयोगिता में। जैसे राजाओं के भोग विलास की सामग्री में। राजाओं के दुर्ग और किले हैं, उनकी बुनावटों और भव्यता के चित्रण में, इसके साथ-साथ जो विवाह के प्रसंग हैं, उनमें स्त्री को हस्तगत करने वाले प्रसंग हैं, ऐहिकता में डूबा हुआ काव्य है। इस कविता की चिंता जीवन के बड़े प्रश्नों से जुड़ी हुई चिंता नहीं है। इसलिए ऐहिकता हमारे जीवन के सवालों का आकार छोटा कर देती है। मनुष्य का इतना महत्वपूर्ण जीवन है और तुम इसे ऐसे ही नष्ट किए जा रहे हो। इस पछतावे और चेतावनी का स्वर भक्तिकाव्य में बार-बार सुनाई पड़ता है इस ऐतिहासिकता के कारण आदिकाल जीवन का कोई बड़ा सवाल नहीं उठा पाता। वह बहुत छोटे सवालों में लिपटा हुआ है।

आदिकाल में स्त्री को कैसे चित्रण

"तीसरा बिन्दु जो सामंतवाद का है वह है स्त्री। देखने की कोशिश करें कि आदिकाल की स्त्री कैसी है या आदिकाल की आंखें स्त्री को कैसे देखती है, स्त्री को कैसे परिभाषित करती है, स्त्री को कहां से पकड़ती है, यह सवाल महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। तभी हम आदिकाल की उस सामंती चेतना को पकड़ पायेंगे जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं।

पहली बात तो यह है कि आदिकाल में स्त्री, पुरुष की सम्पत्ति का एक हिस्सा है। सम्पत्ति का अर्थ होता है जो अधिकृत करने योग्य हो और जिस पर अधिकार किया जा सकता हो और जिसे सामर्थ्य और बलपूर्वक अपने पास रखा जा सकता हो। इसलिए सम्पत्ति का प्रश्न क्षमता का प्रश्न होता है, भावना का नहीं। आदिकाल में स्त्री भावना का विषय नहीं बल्कि वह सामर्थ्य से अर्जित होने वाली वस्तु है। इसलिए स्त्री के सुख और दुख, उसके स्वप्नों और दुस्वप्नों, उसके आंसू और हंसी का कोई जिक्र वहां नहीं होता। दरअसल स्त्री के जीवन की समूची कहानी उस बिन्दु पर खत्म होती है जिस बिन्दु पर वह तलवार के बल पर एक घर से या एक स्वयंवर से छीन ली जाती है और इस तरह से वह राजा के बाड़े में शामिल कर ली जाती है। इसलिए आदिकाल के समूचे साहित्य में, अगर वीसलदेव

रासो को छोड़ दिया जाये, तो कहीं भी पूरे साहित्य में हंसती, रोती या उदास बैठी स्त्री नहीं दिखाई देती है। स्त्री का अपना कोई निजी अस्तित्व या कोई अपनी निजी पहचान नहीं है। पुरुष उसे पहचान देता है। इसलिए यह स्त्री की अस्मिता बोध से शून्य साहित्य है।

सामंवाद की यह छाया बहुत हद तक भक्तिकाव्य में भी दिखाई देती है। भक्तिकाव्य में स्त्री अपने व्यक्तित्व की धुरी पर सुखी या दुखी नहीं होती। उसके दुख और सुख का बहुत गहरा संबंध पति की परिस्थितियों से है। क्योंकि आखिर भक्तिकाव्य जिस माहौल में लिखा गया है वह भी तो सामंती परिवेश है। लेकिन भक्तिकाव्य सामंतवाद के साथ समर्थन और सहयोग का रिश्ता नहीं बल्कि विरोध का रिश्ता रखता है। वह उससे प्रभवित भी है और उसको अतिक्रमित भी करता है। एक तो यह है कि स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता का कोई बारीक चिह्न भी आदिकाल की लगभग पूरी सामग्री में दिखाई नहीं देता। दूसरा स्त्री को लेकर यह है कि आदिकाल में स्त्री की सार्थकता की सभी दिशाएं पुरुष से बंधी हुई है। इसलिए वह अपने जीवन की सभी परिभाषाएं पुरुष से शुरू करती है और उसकी पूर्णाहूति भी पुरुष में ही करती है। पुरुष से स्वतंत्र जीवन की किसी भी परिभाषा का अधिकार आदिकाल की स्त्री को नहीं है।

IAS/PCS

स्त्री को जो सार्थक करता है वह पुरुष है और अन्ततः और अनिवार्यतः अपनी सार्थकता के लिए पुरुष की शरणागति स्त्री के जीवन की अनिवार्य नियति है। आदिकाल का साहित्य पढ़ते हुए यह दिखाई देता है। विद्यापति तक आकर थोड़ा सा अलग संदर्भ दिखाई पड़ने लगता है। दरअसल विद्यापति की जो राधा है वह है वयसंधि। उसका बचपन खत्म हो गया है और कैशौर्य और यौवन का आरम्भ हुआ है। सामाजिक बंधनों और देह के भीतर से फूटते हुए उत्सव के बीच में रगड़ खाती हुई स्त्री है- जिसे विद्यापति ने राधा के रूप में देखा।

3. रासो काव्य की बहुलता

रासो काव्य आदिकालीन कविता की महत्वपूर्ण धारा है। यह मूलतः रसयुक्त प्रबन्ध काव्यधारा है जिसमें वीरतामूलक और शृंगारमूलक प्रवृतियों का चित्रण किया गया है। इस युग के महत्वपूर्ण रासो

काव्यों में पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो, परमाल रासो, खुमान रासो के नाम प्रमुखता से लिये जा सकते हैं। इन रासो काव्यों की रचना प्रधानत: राजालयों में हुई है। इसलिए इनकी काव्यवस्तु पर दरबारी संस्कृति की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। रासो काव्य का अध्ययन करते हुए उसकी निम्नांकित विशेषताएं लक्षित होती हैं :

क) वीरता और शृंगार का मिश्रण

राजाश्रित कवियों ने रासो काव्य में प्रधानत: वीरता एवं शृंगार के विविध पक्षों का चित्रण किया। युद्ध इस युग की राजनीतिक वास्तविकता थी और शृंगार राजाओं एवं सामन्तों की जीवन-पद्धति का अनिवार्य अंग था। पृथ्वीराज रासो में जहां वीरता और शृंगार का मिश्रण है, वहीं वीसलदेव रासो में विशुद्ध रूप से वियोग शृंगार का चित्रण हुआ है।

ख) युद्धों का सजीव चित्रण

आदिकाल के राजाश्रित कवि सिर्फ कलाकार ही नहीं बल्कि अपने आश्रयदाताओं के अच्छे मित्र, परामर्शदाता और योद्धा भी होते थे। सैन्य-संगठन, युद्ध के परिवेश, घात-प्रतिघातों के विविध रूपों एवं युद्ध की भयावहता तथा सैनिकों की वीरता के ये कवि द्रष्टा और भोक्ता भी होते थे। इसलिए इस युग की कविता युद्धों का बेहद जीवंत चित्रण करती है। यद्यपि इस चित्रण में अतिशयोक्ति के अनेक प्रसंग भी दिखाई पड़ते हैं, लेकिन कुल मिलाकर इस कविता में वर्णित युद्ध उस परिवेश की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति है।

ग) ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता का अभाव

रासो काव्य की रचना सामान्यत: आश्रयदाता कवियों के द्वारा हुई लेकिन ये रचनाएं इतिहास के तथ्यों एवं प्रमाणों की दृष्टि से प्राय: बहुत अविश्वसनीय मानी गई हैं। हिन्दी कविता का पहला महाकाव्य पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से सर्वाधिक संदिग्ध काव्य माना गया है।

घ) जन चेतना की अनुपस्थिति

रासो काव्य की प्रेरणा का स्रोत मूलतः राजदरबार था और कवि भी राजाओं के आश्रय में ही होता था। इसलिए इस कविता में आम जिन्दगी की परिस्थितियां अनुपस्थित हैं। विराट सामाजिक जीवन की हलचलों एवं परिस्थितियों का कोई भी चिह्न या प्रमाण इस कविता में नहीं दिखीय पड़ता। इसलिए यह कविता जन-समृद्धि से कटी हुई कविता है।

ड़) कथानक रूढ़ियां

च) प्रबन्ध शैली

सभी रासो काव्यों का संगठनात्मक रूप प्रबंध शैली का है। यह प्रबन्धत्व रासो काव्य में महाकाव्य के स्तर पर भी है और खंड काव्य के स्तर पर भी।

4. भाषिक संक्रमण

आदिकाल की काव्यभाषा न तो पूरी तरह साहित्यिक अपभ्रंश की भाषा है और न ही हिन्दी की। इस काल के काव्यों में क्रियापदों का रूप सामान्यतः अपभ्रंश से प्रभावित है जबकि परसर्गों के प्रयोग में हिन्दी भाषा की अपनी विशेषताएं उभरती हुई दिखाई देती हैं।

5. छंदों की विविधता

आदिकाल के काव्य में छंदों का वैविध्य भी पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है। नाथों और सिद्धों तथा जैन कवियों ने सामान्यतः दोहा और पदों का प्रयोग किया है। जबकि रासो काव्यों में तोटक, तोमर, उल्लाला आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। विद्यापति ने पदों का प्रयोग पूर्ण निपुणता के साथ किया है। अमीर खुसरो ने दोहा, रोला और कुंडलियों का प्रयोग सफलता के साथ किया हैं।

6. काव्य रूप

काव्य रूप की दृष्टि से आदिकाल में प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों प्रकार के काव्यों की रचना हुई है। रासो काव्यों की रचना प्रबन्ध शैली में हुई है तथा धार्मिक काव्य, विद्यापति और खुसरो का काव्य

मुक्तक शैली में लिखा गया है। श्रृंगार और कोमल भावनाओं वाले प्रसंगों में पिंगल शैली तथा वीर रस के वर्णन में डिंगल शैली का प्रयोग हुआ है।

समग्रत: आदिकालीन कविता भारतीय इतिहास और समाज के एक ऐसे युग में लिखी गई कविता है जब परिवर्तन और ठहराव की शक्तियों में एक निर्णायक टकराहट चल रही थी। राजनीतिक अस्थिरता, धार्मिक मूल्यवत्ता का क्षरण और सामंती मूल्यों के दृढ़तर होते हुए ढांचे में इस कविता की रचना हुई। इस कविता की अंतर्वस्तु से लेकर भाषिक संरचना तक पर परिवेश की परछाइयों की छाया दिखायी देती है। वृहत्तर मूल्यों की अनुपस्थिति इस कविता के कद को बढ़ने नहीं देती। पर अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद यह कविता काव्य रचना के अनेक नये द्वारों का निर्माण करती है। इन्हीं द्वारों से होकर हिन्दी काव्य-चेतना का कारवां भक्तिकाल की खुली दुनिया में पहुंचता है। यह खुली दुनिया मनुष्य की मुक्ति एवं उसके दायित्वों का आह्वान करती है।

आदिकालीन कविता का सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक महत्व :

1. परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का समाहार। भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है - 'विरुद्धों का सामंजस्य' जो आदिकालीन कविता में भी घटित हुआ है। इस कारण सांस्कृतिक दृष्टि से इस कविता का बहुत महत्व है। वीर और श्रृंगार, ईश्वरत्व और मनुष्यत्व के द्वन्द्वों का समाहार करने में संलग्न दिखायी देती है। वैविध्य और समरसता पूरी भारतीय सांस्कृतिक विकास-प्रक्रिया का मूल सूत्र है जिसका अच्छा उदाहरण आदिकालीन कविता प्रस्तुत करती है।

खुसरो के कृतित्व से एक और महत्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि हिन्दी का चरित्र एकदम आरंभ से ही असांप्रदायिक रहा है, वह सामासिक संस्कृति की सच्ची रचना है। हिन्दू-मुसलमानों का जहां सीधा द्वन्द्व हिन्दी कवि ने चित्रित किया है वहां भी वह वीरों का युद्ध है, किसी एक पक्ष के प्रति घृणा या द्वेष उत्पन्न करने का प्रसंग नहीं, चंदबरदाई 'पृथ्वीराज रासो' इसका प्रमाण है।

2. आदिकालीन हिन्दी कविता के सांस्कृतिक महत्व का एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु उसकी व्यापकता है। इस दृष्टि से भक्तिकाल और रीतिकाल का क्षेत्र अपेक्षाकृत सिमट गया है। आदिकाल के

अन्तर्गत रासो और जैन साहित्य पछांह का है. सिद्धों की बानी और फिर विद्यापति पूर्वी क्षेत्र के हैं और नाथ-साहित्य तो समूचे उत्तर भारत के एक बहुत बड़े भाग में फैला हुआ है। इस प्रकार कई अपभ्रंशों और कई जनपदों का संस्कार हिन्दी काव्यभाषा में अंतर्मुक्त हुआ है।

निष्कर्ष

आदिकालीन हिन्दी काव्य वीर भावना प्रधान होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से रहित है - राष्ट्रीय भावना से संपृक्त कविता का वीर भावना से युक्त होना एक स्वाभाविक दशा है। राष्ट्र की भौगोलिक सुरक्षा और राष्ट्रीय एकता के लिए राजशक्ति की वीरता की आवश्यकता पड़ती है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य भी करता है। किन्तु यह विडम्बना है कि आदिकालीन हिन्दी काव्य वीर भावना प्रधान होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से रहित है। आदिकालीन हिन्दी कविता की इस स्थिति की जड़ें तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में हैं।

1) राजनीतिक परिवेश

2) आदिकालीन कविता में वीर भावना की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। (युद्धों का सजीव चित्रण) किन्तु इन युद्धों के पीछे कोई राष्ट्रीय चेतना नहीं है। ये युद्ध नारी के लिए और शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए लड़े गए हैं।

3) राष्ट्रीय भावना से इस युग की कविता के वंचित होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि आदिकाल का संपूर्ण साहित्य सामंती जीवन-मूल्यों की छांह में विकसित हुआ है। (सामंती जीवन-मूल्यों की प्रबलता)

4) जन-चेतना की अनुपस्थिति।

रासो काव्य

'रासो' शब्द की उत्पत्ति और प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रामायण' से बना हुआ मानते हैं - ''वीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रामायण' शब्द बार-बार

आता है। अत: हमारी समझ में इसी 'रामायण' शब्द के होते-होते 'रासो' हो गया है।'' अन्य लोगों में से कुछ लोग इसे 'राजयश', 'राजयज्ञ' या रहस्य से निकला हुआ मानते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे नाट्य उपरूपक 'रासक' से प्रादुर्भूत कहते हैं।

'रासो' लोक प्रचलित नाट्य 'रास' से निकला हुआ प्रतीत होता है। भागवत का रास भी लोक से लिया गया है और नाट्य का रासक भी। इसमें गीत और नाट्य दोनों का मिश्रण होता है। भागवत की रासलीला से भी यह सिद्ध है। ब्रजमंडल की रासलीला लोक प्रचलित रास का ही विकसित रूप है। जैन अपभ्रंश में रास की लंबी परम्परा है। 'रास' से ही रासह, रायण, रासु आदि बने। जैन रास मूलत: साम्प्रदायिक है। किन्तु साहित्य में प्रविष्ट होकर इसका रूप श्रृंगार-वीर मिश्रित हो गया।

काव्य-प्रकृति : रासो काव्य की मूल प्रकृति सामंतों और राजाओं के शौर्य और विकास का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करना है। सामंती चरित्र के ये अनिवार्य अंग हैं, शोभा हैं। शौर्य और विलास में कौन प्रधान है, कहना कठिन है। शौर्य का प्रदर्शन विलास को लेकर है और विलासप्रियता शौर्य को लेकर। दोनों में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। किसी की सुन्दर लड़की देखी कि उसे प्राप्त करने के लिए चढ़ दौड़े।

उत्कर्ष क्लासेज 7650400-IAS/PCS

इस समय मुसलमानों के आक्रमण और तेज हो गये। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी जो विदेशी आक्रमणकारियों को मुंहतोड़ उत्तर देती। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कहरवाड़, चौहान, चंदेल, परिहार आदि राजपूतों के अलग-अलग राज्य थे और वे आपस में लड़ा करते थे। युद्ध उनका व्यवसाय था और विलास खेती। यदि कभी राजाओं में संधि होती भी थी तो वे किसी भी तुच्छ कारण से कभी भी किसी क्षण टूट सकती थी।

रासो काव्य कितने भी अप्रामाणिक क्यों न हों, पर उनके आधार पर तत्कालीन सामंती समाज की विलासिता और वैयक्तिक शौर्य का पता लग जाता है। जो भी रासो काव्य मिले हैं, उनमें पारस्परिक युद्धों, ईर्ष्या-द्वेष, कलक, रूप-लोभ आदि का खूब बढ़ा-चढ़ाकर चित्रण किया गया है। इस ऐतिहासिक दुर्घटना का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके मूल कारणों का पता रासो काव्य से लग जाता है। फिर भी

लोकजीवन की कुछ न कुछ झांकी मिल ही जाती है। पर भाषा तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रासो काव्य प्रामाणिक नहीं सिद्ध होते। खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो ऐसी रचनाएं हैं। भट्ट केदार का 'जयचन्द प्रकाश' और मधुकर कवि का 'जयमयंक चन्द्रिका' ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। श्रीधर का 'रणमल्ल छन्द' सामान्य पुस्तक है।

पृथ्वीराज रासो : चन्दबरदाई (1126-1196) कृत पृथ्वीराज रासो इस काल का जितना अधिक महत्वपूर्ण काव्य है उतना ही अधिक विवादास्पद भी है। कहा जाता है कि चन्दबरदाई दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान का बालसखा, परामर्शदाता और राजकवि था। रासो के अनुसार पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गोरी अपने देश ले गया। बाद में चन्द भी वहां पहुंचा। चन्दबरदाई ने ऐसी युक्ति निकाली कि गोरी पृथ्वीराज के शब्द-वेधी बाण से मारा गया तदनन्तर चन्द और पृथ्वीराज एक-दूसरे को मारकर मर गये। रासो को पूरा किया चन्द के पुत्र जल्हन ने कहा जाता है -

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि॥

पर रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। प्रामाणिकता के पक्ष और विपक्ष में अरसे से लिखा जाता रहा है। रासो के रचयिता चन्द के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंकाएं उठायी गयी। भला हो 'पुरातन-प्रबंध संग्रह' के संपादक का जिसने चंदवलिद् के चार छप्पयों का उल्लेख कर दिया। अत: चंद का होना प्रामाणिक हो गया। लेकिन रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विवाद चलता रहा और उसके साहित्यिक मूल्यांकन की ओर लोगों की दृष्टि नहीं गयी। किन्तु पृथ्वीराज का समकालीन होने के कारण उसकी ऐतिहासिकता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के संबंध में तीन प्रकार के मत हैं - 1) रासो पूर्णत: प्रामाणिक रचना है, 2) रासो पूर्णत: अप्रामाणिक है, 3) न पूर्णत: प्रामाणिक है और न पूर्णत: अप्रामाणिक। वह अर्द्ध प्रामाणिक है।

IAS/PCS

प्रथम मत मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबंधु और श्यामसुन्दर दास प्रमुख हैं। इन्होंने ना.प्र.स. से प्रकाशित रासो के वृहतम रूप को प्रामाणिक माना है। पंड्या जी ने उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए एक 'आनन्द संवत्' की कल्पना भी कर ली है। फिर भी उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो पाती। वस्तुत: इसके पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, वे बुनियादी तौर पर कमजोर हैं और अंधश्रद्ध के शिकार हैं।

बूल्हर, गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, देवी प्रसाद, कविराज श्यामल दास, रामचन्द्र शुक्ल इसे जाली ग्रंथ ठहराते हैं। ओझाजी ने वैज्ञानिक पद्धति पर उसकी पड़ताल करते हुए उसे अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार रासो में उल्लिखित नाम, घटनाएं और संवत् भट्टभगंत हैं। कश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' काव्य तथा तत्कालीन शिलालेखों के साक्ष्य पर रासो किसी प्रकार भी प्रामाणिक नहीं ठहरता। वे रासो को सं. 1600 के आसपास की रचना मानते हैं।

तीसरा मत मुनि जिनविजय और हजारी प्रसाद द्विवेदी का है। मुनिजिनविजय ने 'पुरातन प्रबंध संग्रह' से चन्द भणित चार छप्पयों को उदाहरित करते हुए बताया है कि मूल रासो की भाषा अपभ्रंश थी। इन चारों छप्पयों में से तीन रासो में मिलते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुनिजी के मत की संपुष्टि की है। उन्होंने एक रासो का संपादन किया है जिसे वे मूल रासो की प्रकृति के आसपास की रचना मानते हैं।

रासो के सम्बन्ध में इतने विचार-मंथन से अब अधिकांश लोग इससे सहमत हैं कि चन्द पृथ्वीराज चौहान का राजकवि था। उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य लिखा था, किन्तु यह भी सच है कि रासो के चार रूपान्तरों - बृहद्, मध्य, लघु, लघुतम - में से किसी को भी यथावत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता - लघुतम को भी नहीं। क्षेपक लघुतम रूप में भी है। पीढ़ियों से गाये जाने के कारण उसकी भाषा में परिवर्तन तो हुआ ही, बहुत-से क्षेपक भी जुड़ते चले गये। अत: मूल रासो को इन रूपान्तरों में खोजने का प्रयास व्यर्थ है। यदि संयोग से अपभ्रंश में लिखा हुआ कोई रासो मिल जाये तो

उसे, परीक्षा करने बाद, प्रामाणिक घोषित किया जा सकता है। क्षेपकों के बावजूद रासो के काव्य-सौन्दर्य पर विचार किया जाना चाहिए।

काव्य की बुनावट : चन्द का रासो पारंपरिक पैटर्न को ग्रहण करते हुए भी अपनी समग्रता में मौलिक है। मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन, प्रशंसा-निन्दा, नखशिख-वर्णन, अलंकार-विधान, अप्रस्तुत योजना आदि परंपरागत हैं। किन्तु उनका विनियोजन नया है। यह न शृंगारगाथा है, न वीरगाथा और न उनका मिश्रण। यह एक राजनीतिक महाकाव्य है, दूसरे शब्दों में राजनीति की महाकाव्यात्मक त्रासदी है। चन्द ने लिखा है -

राजनीति पाइयै। ग्यान पाइयै सु जानिय।।
उकति जुगति पाइयै। अरथ घटि बढ़ि उनमानिय।।

'उकति', 'जुगति' का प्रयोग राजनीति पाने के लिए किया गया है। इस राजनीति के दो छोर हैं- आन्तरिक विग्रह का सामना और बाहरी आक्रामक के साथ युद्ध। रासो का केन्द्रीय वर्ण्य युद्ध है। विलास से इसका घना रिश्ता है। 'प्रबंध-चिंतामणि' में सामंती जीवन को बहुत ही सटीक ढंग से अभिव्यक्त कर दिया गया है -

एहु जम्मु नग्गहं गियउ भड-सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरिय न माणिया गौरी गलि न लग्गु।।

युद्ध और विलास सामंती जीवन के अनिवार्य अंग हैं। इनके साथ वैयक्तिक शौर्य को भी शामिल कर लेना चाहिए। युद्ध और शौर्य ताना है और विलास बाना। इन्हीं ताने-बाने से रासो बुना गया है। इसकी बुनावट को समझना रासो को समझना है। इसलिए कन्ह और कयमास की कथाओं को, जो हाशिए पर रखी जाती थीं, रासो की मुख्यधारा से जोड़ना होगा। कभी-कभी हाशिया ही मुख्यधारा बन जाता है।

कन्ह पृथ्वीराज का सामंत था। भीमदेव चालुक्य का भाई पृथ्वीराज के दरबार में रहता था। कन्ह के सामने उसने अपनी मूंछों पर हाथ रख दिया था। कन्ह जैसे सामंत के सामने कोई मूंछों पर ताव कैसे

दे सकता था ? कन्ह ने म्यान से चमचमाती तलवार निकाली और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। पृथ्वीराज ने उसे हलका-सा दंड दिया। उसकी ऑखों पर पट्टी बंधवा दी। भीमदेव चालुक्य पृथ्वीराज का दुश्मन बन गया। पृथ्वीराज का योग्य मंत्री कयमास एक करनाटी दासी पर अनुरक्त था। एक छोटे-से अपराध पर पृथ्वीराज ने उसका वध कर दिया। इस तरह वह एक योग्य मंत्री खो बैठा। ये दोनों घटनाएं थोथी सामंती आन-बान और नैतिकता की सूचक हैं। ये घटनाएं गोरी के बंदीगृह में पृथ्वीराज के पश्चाताप से जुड़कर तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को पूर्णत: उभार देती हैं और रासो की संरचना में रच-बसकर उसे मुकम्मल बनाती हैं।

विलास के अभाव में सामंत, सामंत नहीं हो सकता। यह उसकी शान है। पृथ्वीराज चौहान कम विलासी नहीं है, किन्तु उसका विलास विवाहित स्त्रियों की सीमा में बंधा हुआ है, पत्नी के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति अन्य महत्वपूर्ण कामों में बाधक हो सकती है पर वह अपने-आपमें असामाजिक नहीं है। इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाह-वर्णन में कहीं पुनरुक्ति नहीं है। तीनों विवाह तीन तरह के हैं। इच्छिनी का विवाह उसके पिता द्वारा निश्चित किया गया है। शशिव्रता का विवाह पूर्वानुरागजन्य है और संयोगिता का स्वयंवर-विवाह है। इसलिए इनकी संरचना में ऊब नहीं होती। यहीं पर सामंती जकड़न के प्रति नारियों का विद्रोह भी है। अत: इन विवाहों में रोमैंटिकता का स्पर्श भी हो जाता है। खजुराहो के मंदिरों का निर्माण और भी पहले शुरू हो गया था। कला का यह चरमोत्कर्ष और काम-कला की आत्यंतिकता अन्यत्र देखने को नहीं मिलेंगी। उद्देश्यहीन कला अपने रूपायन में चाहे जिस ऊंचाई पर स्थिर हो, परिणति में विकृतिमूलक ही होगी। रासो में विलास की यह आत्यंतिक स्थिति नहीं है।

'पृथ्वीराज की विलासिता दो स्थानों में दिखाई पड़ती है - संयोगिता-हरण के पूर्व ऋतु-वर्णन में और मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय महाजनों द्वारा राजा को सूचित करने के असंजस में। राजा ऐसा रसिक है कि जिस रानी के पास छुट्टी मांगने जाता है वहीं दो महीने बिलमा जाता है। अंत में चन्द 'ऋतु' के श्लेषार्थ से उसे मुक्ति का उपाय सुझाता है। संयोगिता जैसे सुन्दरी नयी रानी को पाकर वह विलास में निमग्नोन्मग्न हो जाता है। मुहम्मद गोरी ने आक्रमण कर दिया है पर पृथ्वीराज को इसका पता

भी नहीं लगा। उसे सूचित करना कठिन था। महाजन लोग एकत्र होते हैं और आपस में परामर्श करते हैं- 'किम बुज्झे रतिवंती राजन।' 'रतिवंती' शब्द पूरे सामंत वर्ग की दिनचर्या को उघाड़कर रख देता है। यही नहीं, इसके पीछे चन्द्र का एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी है। कहां जबरदस्त हमलावर गोरी और कहां रतिवंती राजा।

अंत में कामोत्सव की याद के साथ कन्ह, कयमास आदि भी, पृथ्वीराज को याद आते हैं और सारा महाकाव्य एक त्रासदी में बदल जाता है। इस त्रासदी को समझना ही 'राजनीति बोहित' को पाना है। महाकाव्य की त्रासदी राजनीति की फलश्रुति और राजनीति की त्रासदी की फलश्रुति है।

पृथ्वीराज पश्चाताप करता है -

परयो बंधन गज्जनं मेछ हथ्थं। बिचारै करी अप्प करतूति पिथ्थं।।
हन्यो दासिये हेतु कैमास बानं। गजं सून चामंडबेरी भरानं।।
बँधे कन्ह काका चयं पट्ट गाढ़े। बिना दोस पुंडरी से भ्रत्त काढ़े।।
बरज्जंत चंद चल्यौ हुँ कन्नौजं। तथा सूर सामंत कटि छट्टि फौजं।।
लिये राजलोक रमंतं सिकारं। भ्रम केहरी कंदरा रिप्प जारं।।
निराधार आधार करतार तू ही। बन्यौ संकट मो लीन सों ही।।
कली कद्द मँगाय वृन्दावनी कों। सँभालो नहीं तो कहाओ धनी क्यों।।

'निराधार आधार करतार तू ही' सारी त्रासदी को और भी गहरा देता है। जब असहाय व्यक्ति का कोई सहारा नहीं होता तो वह ईश्वर की शरण लेता है, काशी-वृन्दावन की याद करता है। यह भक्तिकालीन करतार नहीं है, बल्कि खालिस उदासी की अंतिम शरणगाह है। समग्र महाकाव्य के भीतर से पृथ्वीराज की त्रासदी के साथ एक सामाजिक-राजनीतिक त्रासदी भी उभरती है जो जितनी पृथ्वीराज की है उससे कहीं अधिक राष्ट्र की है। यहीं से देश की दीर्घकालीन त्रासदी की शुरूआत होती है। यद्यपि आखिर में कवि-पुत्र ने इसे सुखान्त बनाने की कोशिश की है पर वह एक भोंडे जोड़ से अधिक नहीं है।

भाषा के सम्बन्ध में कवि ने आरंभ में ही लिखा है :

उक्ति धर्म विशालस्य। राजनीति नवरसं।।
खट भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया।।

जाहिर है, नवरस, उक्ति, भाषा - सभी राजनीति के इर्द गिर्द घूमती हैं। 'खटभाषा' का उल्लेख परंपरा-पालन के लिए नहीं है। इसमें राजस्थानी, ब्रजी, फारसी आदि के शब्द मिले हुए हैं, अपभ्रंश और अवहट्ठ की चाशनी भी है। एक ही शब्द कई रूपों में लिखे गये हैं, जैसे - शैल के लिए सैल, सयल, सइल, एक के लिए इक, इकइ, इकि आदि। भाटों की विभिन्न पीढ़ियों द्वारा गाये जाने के कारण भाषागत इस अव्यवस्था का मिलना स्वाभाविक है। सब मिलाकर इसकी भाषा ब्रजमिश्रित राजस्थानी या डिंगल है। पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि इसकी अवहट्ठ भाषा का भी अपना स्वाद है।

000-

भक्तिकाव्य

- भक्ति–आंदोलन की पृष्ठभूमि
- भक्तिकाल की दार्शनिक पीठिका
- भक्ति–आंदोलन के उदय की व्याख्या
- भक्तिकाव्य की विशेषताएं
- भक्तिकाव्य की विभिन्न धाराएं
- हिन्दी सूफीकाव्य परम्परा
- संतकाव्यधारा और सूफीकाव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन
- कृष्णभक्ति काव्यधारा
- कृष्णकाव्य की प्रवृत्तियां
- रामभक्ति काव्य की विशेषताएं
- रामकाव्य परंपरा
- रामकाव्य और कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन
- भक्तिकाव्य का मानवतावादी स्वर
- भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना
- भक्तिकाव्य और लोकधर्म
- भक्तिकाव्य का सामाजिक सांस्कृतिक प्रदेय

भक्तिकाव्य हिन्दी कविता की सर्वोपरि उपलब्धि है। भक्ति को काव्य–मूल्य एवं जीवन–मूल्य के रूप में स्थापित करने वाली इस कविता का समय मध्यकाल की चार शताब्दियों तक फैला हुआ है। मध्यकाल के सामंतवादी अंधेरे में भक्तिकाव्य मानवतावादी चेतना की प्रथम प्रखर अभिव्यक्ति है। भारतीय जातीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली इस कविता को अपने वैविध्य, आनुभूतिक गहराई, लोकव्यापी स्वरूप एवं अखिल भारतीय विस्तार के कारण हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाने का गौरव प्राप्त है। भक्तिकाव्य का आधार भक्ति–आंदोलन है। अतः भक्तिकाव्य के विश्लेषण से पूर्व भक्ति–आंदोलन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भक्ति–आंदोलन की पृष्ठभूमि

आर्य संस्कृति का मूलाधार कर्मकाण्ड है और स्वभावतः इसलिए आर्यों के आदिग्रंथ ऋग्वेद का प्रधान देवता इन्द्र है। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि इन्द्र आर्यों के सभी देवताओं का अधिपति है और उसे विभिन्न यज्ञों के माध्यम से प्रसन्न किया जा सकता है। यद्यपि ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख है लेकिन वह इन्द्र का एक सहायक देवता मात्र है। अनेक ऐतिहासिक कारणों से परिवर्तन की प्रक्रिया में धीरे–धीरे इन्द्र की तुलना में विष्णु का वर्चस्व बढ़ने लगता है और कालांतर में विष्णु भारतीय उपासना पद्धति का केन्द्र बिन्दु बन गया। जिन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों ने इन्द्र की केन्द्रीयता को अपदस्थ किया और उसके स्थान पर विष्णु को प्रतिष्ठित किया उनमें प्रमुख हैं–

1. आर्य संस्कृति पर आर्येत्तर जातियों का प्रभाव

आर्यों और अनार्यों के बीच के संघर्षों के बाद उत्पन्न घृणा कालान्तर में कम हुई और दोनों के बीच आदान–प्रदान की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। द्रविड़ों के प्रभाव के कारण आर्यों ने विष्णु को माना। द्रविड़ों के भावनामूलक संबंध विधान का असर आर्यों पर पड़ा जिसके कारण इन्द्र की जगह विष्णु ने ले ली। इससे वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ।

2. औपनिषदिक चिंतन का उदय

वैदिक कर्मकाण्ड के स्थान पर चिंतन और ज्ञान की धारा की सूत्रपात उपनिषदों में हुआ। ब्रह्म, जीव और माया जैसे विषयों पर उपनिषदकारों ने विचार किया। इस विचार प्रक्रिया में

वैदिक कर्मकाण्डों की महत्ता का ह्रास हुआ और बहुदेववाद के स्थान पर मूल ब्रह्म की अवधारणा पर विचार किया जाने लगा। इस प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्म चिंतन का सूत्रपात हुआ उसने इन्द्र की केन्द्रीयता को उपदस्थ कर दिया और विष्णु को ब्रह्म की मुख्य शक्ति के रूप में स्थापित किया।

3. बौद्ध और जैन धर्म का उदय

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों के उदय ने यज्ञ और कर्मकाण्डों पर आधारित कार्यों की उपासना पद्धति को जबर्दस्त चुनौती दी। इतिहासकारों की मान्यता है कि संभवतः इसी के आसपास भागवत धर्म का उदय हुआ। भागवत धर्म का आधार विष्णु थे। भारतीय संस्कृति का मूल आधार भावना बनी और भावना के आधार विष्णु बने। भक्ति आन्दोलन का मूल संबंध विष्णु से है।

4. दार्शनिक संप्रदायों का उदय

शंकर के अद्वैत दर्शन का विरोध करने वाले श्री सम्प्रदाय के संस्थापक रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। ईश्वर को विशिष्ट स्वीकार करते हुए भी रामानुज ने उसे सगुण माना। उनके अनुसार ईश्वर के सबसे प्रधान गुण हैं – ज्ञान, भक्ति और करूणा। करूणा के कारण ही ईश्वर ने जगत की रचना की, धार्मिक विधान का निर्माण किया और वह ईश्वर उन सभी व्यक्तियों की समान रूप से सहायता करती है जो अपनी पूर्णता के लिए उसकी सहायता की याचना करते हैं। रामानुज ने ही वस्तुतः ईश्वर के सगुण रूप की भक्ति का सूत्रपात किया। भक्ति एक प्रकार का रिश्ता है और यह रिश्ता विष्णु के साथ शुरू होता है और कालांतर में विष्णु के दो रूपों में जुड़ता है – राम और कृष्ण। यही राम–कृष्ण भक्ति आन्दोलन के मूल हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास की अनिवार्य प्रक्रिया में इन्द्र के स्थान पर विष्णु को प्रमुखता मिली और यही विष्णु वैष्णव धर्म के आधार बने। परिवर्तन के अनेक आरोहों अवरोहों में वैदिक विष्णु का रूपान्तर अन्ततः राम और कृष्ण में हुआ। विष्णु के ये अवतारी रूप ही मूलतः भक्ति आन्दोलन के मूल आधार बने।

भक्तिकाव्य की दार्शनिक पीठिका

मध्यकाल में दर्शन की अवधारणा जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या है। इस व्याख्या की प्रक्रिया में जगत और माया के संबंधों की चर्चा भी मध्यकालीन दर्शन में होती रही है। जीव,

जगत, माया, ब्रह्म इन चारों के संबंध का विवेचन और विश्लेषण मध्यकालीन दर्शन का मुख्य आधार है।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य का आधार या उसकी प्रेरणा किसी न किसी रूप में शंकर के अद्वैत सिद्धांत की असहमति में विकसित हुई दार्शनिक पीठिका में है। शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन की मुख्य स्थापनाएं ये थीं --

1— जगत का निषेध 'मिथ्या है'।

2— ब्रह्म और जीव अद्वैत हैं।

3— जो दिखता है वह भ्रम है -- माया है। उदाहरण -- रस्सी में सांप का भ्रम होने पर जैसा अनुभव होता है।

4— ज्ञान से ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है।

5— सत्य सिर्फ एक है और वह ब्रह्म है।

6— ब्रह्म जब माया से आवेशित होता है तब वह जगत की सृष्टि करता है। माया से अनाविष्ट 'ब्रह्म' है, माया से आविष्ट ईश्वर है। इस तरह से 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' में स्थितिगत अन्तर है।

शंकर के अद्वैत सिद्धांत के विरोध में जो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक धाराएं विकसित हुईं उनका विश्लेषण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है--

1. <u>विशिष्टाद्वैत (रामानुजाचार्य)</u> – इसकी मुख्य स्थापनाएं हैं –

1— जगत अवास्तविक नहीं है। यह स्थापना भारतीय दर्शन में पहली बार हुई। ईश्वर सत्य है और ईश्वर की निर्मिति भी सत्य ही होगी, असत्य नहीं हो सकती। अतः जगत की परेशानियां भी वास्तविक हैं।

2— जागतिक परेशानियों को दूर करने के लिए ईश्वर अवतार लेता है।

3— जीव और ब्रह्म के तत्त्वतः अभिन्न होने के बावजूद भी ब्रह्म विशिष्ट है। प्रलय में जगत और जीव ब्रह्म में स्थान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने पहली बार अवतारवाद तथा धर्म की सामाजिक भूमिका की प्रस्तावना की। इसके साथ ही ईश्वर की ऐहिक भूमिका की शुरूआत हुई।

2. द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्क) – द्वैताद्वैतवाद में यह स्थापना दी गई कि ब्रह्म और जीव सांसारिक दृष्टि से अलग हैं पर तत्त्वतः एक ही हैं। अपनी अंतिम परिणति में ये एक हो जाते हैं। संसार में ये अलग हैं, जैसे कृष्ण और गोपियां। इस सिद्धान्त को भेदाभेद भी कहा गया है। व्यावहारिक धरातल पर जीव–जगत और ब्रह्म अलग हैं। प्रलय के क्षण में एक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त ने राधा और कृष्ण की युगल उपासना पर बल दिया। विष्णु कृष्ण के रूप में, शक्ति राधा के रूप में आराध्य बने।

3. शुद्धाद्वैत (विष्णु स्वामी)

इसकी व्याख्या बल्लभाचार्य ने की और इसी सिद्धांत के आधार पर 'अष्टछाप' की स्थापना की। शुद्धाद्वैत की मुख्य मान्यताएं ये हैं –

1– जगत की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म अलिप्त रहता है। जैसे कमल कीचड़ से निकलता है पर कीचड़ के गुण उसमें नहीं होते। अतेतः ब्रह्म शुद्ध रहता है।

2– यह जगत एक आकार है। कनक कुण्डल का उदाहरण – जैसे सोने का कुण्डल भी सोने का ही रहता है, केवल आकार ग्रहण कर लेता है। वैसे ही ईश्वर निराकार है, जगत को उसका दिया आकार है। कृष्ण लिप्त दिखते हुए भी अलिप्त हैं अतः योगेश्वर हैं। राम योगेश्वर नहीं हैं क्योंकि वे लिप्त हो जाते हैं – सीमा में एकनिष्ठता।

3– ब्रह्म को प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग प्रेम है। यह प्रेम भी स्वतः स्फूर्त नहीं होता,कृष्ण के अनुग्रह से होता है। इस अनुग्रह को बल्लभाचार्य ने 'पुष्टि' कहा।

4. द्वैत (मध्वाचार्य)

यह एकदम सीधे–सीधे शंकर के अद्वैत से टकराता है। इसकी मान्यताएं हैं –

1– ईश्वर उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है।

2– विष्णु ही ब्रह्म है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी है, जो विष्णु की शक्ति है और उसके अधीन है। यह शक्ति ही नाना रूप धारण करती है और जगत की सृष्टि करती है तथा ब्रह्म के अवतार लेने पर उसकी अर्द्धांगिनी या प्रेयसी बनकर आती है।

3– अन्तिम स्थिति में भी जीव और जगत में भेद बना रहता है।

4– जीव और जीव में भी भेद होता है। प्रत्येक जीव ब्रह्म के साथ एक ही तरह का सम्बन्ध नहीं बनाता। ज्ञान, भक्ति और साधना के आधार पर जीवों की अलग–अलग कोटियां होती हैं और इसलिए अलग–अलग संबंध भी बनता है।

5– जगत पूरी तरह सत्य है क्योंकि ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म का बनाया हुआ जगत असत्य नहीं हो सकता।

समग्र रूप में हम उपरोक्त दार्शनिक संप्रदायों की मुख्य विशिष्टताओं को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं –

1– चारों दर्शन ईश्वर के सगुण रूप को स्थापित करते हैं।

2– चारों सिद्धांत ईश्वर प्राप्ति के लिए ज्ञान के स्थान पर भावना और अनुभूति को वरीयता देते हैं।

3– चारों अवतारवाद की प्रस्तावना करते हैं। इस अवतारवाद में लीला की अवधारणा को विन्यस्त करते हैं।

4– चारों ब्रह्म के निर्गुणत्व का निषेध नहीं करते लेकिन भक्ति का आधार सगुण को ही मानते हैं। आलंबन सगुण ही हो सकता है। कालान्तर में इन्हीं से दोनों सगुण धाराओं का जन्म हुआ।

इस प्रकार सामाजिक स्तर पर भक्ति आन्दोलन सामंतवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ तथा दार्शनिक स्तर पर शंकर के अद्वैतवाद या मायावाद के विरोध में उत्पन्न हुआ।

भक्तिकाल के उदय की व्याख्या

भक्ति–आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह मानी गयी है कि वह धर्म को साधना का नहीं, भावना का विषय मानता है। इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। भक्ति लगभग चार सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य की प्रधान प्रवृत्ति बनी रही। इस भक्ति–आन्दोलन ने हिन्दी को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिए। इन महान भक्तों और कवियों की कालजयी कृतियों के कारण ही विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहा है। इस आन्दोलन के ऐतिहासिक आधार के संबंध में विद्वानों में मतभेद है।

जार्ज ग्रियर्सन, ताराचन्द, आबिद हुसैन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रो0 इरफान हबीब, डा0 सतीशचन्द्र आदि विद्वानों ने भक्ति–आन्दोलनों के उदय की व्याख्या भिन्न–भिन्न रूपों में की है। जार्ज ग्रियर्सन के लिए वह ईसाई प्रभाव है, ताराचन्द्र के लिए अरबी देन, आबिद हुसैन की मान्यता से मुस्लिम संस्कृति के संपर्क का परिणाम, आचार्य शुकल के लिए इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास। प्रो0 इरफान हबीब जहां भक्ति–आन्दोलन को अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार से जोड़ते हैं वहीं डा0 सतीशचन्द्र जैनियों एवं बौद्धों की निष्प्राण साधना–पद्धति के अस्वीकार तथा सूफी संतों के प्रभाव से। ये सभी कारण वस्तुतः विदेशी, देशी, लोक, निम्नवर्ग आदि को महत्व देने वाली अलग–अलग दृष्टियां हैं। भक्ति–आन्दोलन के उदय के कारण को समझने के लिए इन दृष्टिकोणों का विवेचन अपेक्षित है।

भक्ति आन्दोलन को ईसाई प्रभाव की देन या मुस्लिम संस्कृति से संपर्क का परिणाम बताने वाली जार्ज ग्रियर्सन, ताराचन्द, आबिद हुसैन आदि की धारणाएं अब बहुत विचारणीय नहीं रह गई हैं। जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के मद्रास क्षेत्र में ईसाई पादरियों के आगमन से जो करूणा का संदेश मिला उससे भक्ति–आन्दोलन का अचानक उद्भव हुआ। पर इतने बड़े आन्दोलन का प्रस्फुटन अचानक नहीं हो सकता। दूसरे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह दिखाया है कि करूणा का तत्व ईसाई पादरियों के आगमन के बहुत पहले से बौद्ध धर्म में विद्यमान था, अतः उसे ईसाई प्रभाव कहना पूर्वाग्रह से ग्रसित दृष्टि है। इस विवेचन से मुस्लिम संस्कृति से संपर्क को भक्ति आन्दोलन का कारण बताने वाली धारणा भी खंडित हो जाती है।

भक्ति–आंदोलन के उदय के कारकों के संबंध में सर्वाधिक विवाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं को लेकर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुस्लिम आक्रान्ताओं से हिन्दुओं के पराभव और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को भक्तिकाल के विकास का प्रमुख कारक मानते हैं। उनके अनुसार 'अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को आचार्य शुक्ल की यह मान्यता स्वीकार नहीं की कि भक्तिकाल बाहरी आक्रमण की प्रतिक्रिया है। उन्होंने इसे भारतीय परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास बताते हुए लिखा है – '... लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं अगर इस्लाम न आया होता तो भी

इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की धारणा का खंडन करते हुए यह तर्क दिया कि अगर भक्ति–आंदोलन इस्लामी आक्रमण की देन होता तो उसका आरंभ उत्तरी भारत में होना चाहिए था क्योंकि मुस्लिम आक्रमण उत्तरी भारत पर हुआ था जबकि भक्ति का आरंभ दक्षिण भारत में हुआ। साथ ही भक्तिकाव्य में हताशा या निराशा का भाव नहीं मिलता, बल्कि वह उत्साह और जिजीविषा का काव्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी इस बात का पता था कि भक्ति का आरंभ दक्षिण भारत में हुआ और वह वहां से उत्तर भारत में आया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल की मूल मान्यता यह है कि दक्षिण भारत में भक्ति ने आन्दोलन का रूप नहीं लिया था। उसने आन्दोलन का रूप इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तरी भारत में लिया।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार बौद्ध धर्म क्रमशः लोक स्तरों पर संक्रमित हुआ और धीरे–धीरे निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं का प्रेरक तत्व बन गया। वे प्राकृत–अपभ्रंश की शृंगारिकता की प्रतिक्रिया को भक्तिकाल का दूसरा प्रेरक तत्व मानते हैं।

प्रो0 इरफान हबीब ने अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार को भक्तिकाल के उदय का कारण माना है। उनके अनुसार 7वीं–8वीं शताब्दी में नहर निर्माण, वस्त्र निर्माण, स्थापत्य इत्यादि के विकास के कारण अवर्णों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई और उनमें आत्मगौरव का भाव उदित हुआ। यह भक्तिकाव्य, विशेषतः संतकाव्य का प्रेरक बना।

डा0 सतीश चन्द्र राजपूत राजाओं के पराजय के कारण ब्राह्मणों की सत्ता के ह्रास के फलस्वरूप कर्मकाण्डों की अल्पता, बौद्ध धर्म की क्षयग्रस्तता और सूफी संतों के प्रभाव के कारण भाई–चारे एवं प्रेम के संदेश को भक्तिकाल के उदय का कारण मानते हैं।

इस प्रकार अलग–अलग विद्वानों ने भक्तिकाल के उदय की भिन्न–भिन्न व्याख्या की है। इनमें से किसी एक की व्याख्या को पूर्णतः स्वीकार कर लेना एकांगी होगा। वस्तुतः भक्तिकाल भारतीय परम्परा के ही स्वाभाविक विकास का परिणाम है और इसे तात्कालिक परिस्थितियों के कारण व्यापक और तीव्र होने का अवसर मिला।

भक्तिकाव्य की विशेषताएं

भक्तिकाव्य भक्ति आन्दोलन की उपज है। यह कविता एक आत्ममंथन के समय निर्गित हुई है। कविता ऐतिहासिक आत्ममंथन एवं आंदोलन से जुड़ी होती है, वह समाज का प्रतिनिधित्व करती है। बड़ी कविता वही हो सकती है, जहां मुनष्य के संकट को उठाया जा सकता है। भक्ति कविता को जो लोग गिड़गिड़ाहट समझते हैं, वे भक्तिकाव्य की अधूरी व्याख्या करते हैं। दैन्यता एवं आत्मनिरीहता के भाव के साथ निर्णय का अद्भुत विवेक इस कविता में दिखाई पड़ता है। भक्ति में धर्म साधना का विषय नहीं है भावना का विषय है। साधना हमेशा कृत्रिम होती है, बाहरी होती है। इसलिए शुक्ल ने भक्ति को धर्म का रसात्मक रूप कहा है। इस पृष्ठभूमि में भक्तिकाव्य की कुछ विशेषताओं की पहचान की जा सकती है –

1. भक्ति की केन्द्रीयता

केन्द्र विहीनता मध्यकाल की विशेषता है। मध्यकाल राजनीतिक, सामाजिक स्तर पर टूटा हुआ काल है। किसी भी ऐतिहासिक समय में मूल्य की कमी से अराजकता फैलती है। मूल्य का होना इस बात का सूचक है कि जीवन यात्रा का लक्ष्य क्या है ? मूल्य को जीवन की सार्थकता का पर्याय माना जाता है। सार्थकता का कोई मूल्य मध्यकाल में दिखाई नहीं पड़ता। मूलतः समग्रता की चिन्ता के भीतर से मूल्य का जन्म होता है। भक्ति–आन्दोलन इसी समग्रता की चिन्ता से जुड़कर 'भक्ति' को चरम मूल्य के रूप में प्रस्तावित करता है। भक्ति की केन्द्रीयता ही भक्तिकाव्य की प्रथम विशेषता है। भक्ति मूलतः मनुष्य के समूचे जीवन को पुनर्गठित करती है। वह मानवीय एकता और सामाजिक भाई–चारे का बहुत बड़ा माध्यम है। दार्शनिक स्तर पर मतभेद होते हुए भी भक्ति के स्तर पर निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। जीवन को सार्थकता देने वाली कोई ईकाई मध्यकाल में नहीं रह गई थी। धर्म भी मध्यकाल में जीवन को सार्थकता नहीं दे रहा था। भक्ति का होना ही अपने आप में संपूर्ण है। इसलिए भक्ति को जीवन की सार्थकता का केन्द्र माना गया। भक्ति मनुष्य होने की शर्त भी है। इसलिए भक्ति मनुष्य को सुन्दर बनाती है।

कबीर – हरि भगति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।

अर्थात् हरि में जिसकी भक्ति नहीं है, वह डूब कर मर जाने लायक है। डूब कर मर जाने वाले इस संसार को सार्थकता केवल भक्ति दे सकती है। तुलसीदास ने ईश्वर से वरदान मांगते हुए कहा है– 'देहु भगति तिहुं पाप नसावनि।'

भक्ति के द्वारा ही मूलतः सीमाओं से बाहर निकाला जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह भक्ति जीवन को एक आशा देती है, आस्वाद देती है। भक्ति जानने के स्तर पर व्यर्थ है। मध्यकाल के एक विराट शून्य में भक्ति एक केन्द्र के रूप में उपस्थित है। भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। भक्ति मूलतः तथ्य को हटाकर उसके स्थान पर भावना को लाती है। भक्ति का एक भावात्मक, सौन्दर्यात्मक और भावनात्मक मूल्य है।

2. नाम स्मरण

हमारा जीवन हमारे विचारों का प्रतिफलन है। विचारों का निर्माण मूलतः क्षणों में घटित होने से होता है। वस्तुतः हमारा जीवन हमारी आदतों का परिणाम है। मनुष्य निरंतर दोलायमान है। जैविकता और देवत्व की संधि पर खड़ा है। विकृति में भक्ति नहीं हो सकती। नाम-स्मरण निरंतर ईश्वर के बारे में सोचना है। लगातार ईश्वर के बारे में सोचने पर वह परिवेश तैयार हो सकता है जहां से ईश्वर को प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिए भक्त कवियों ने नाम स्मरण को बहुत महत्त्व दिया है –

कबीर – निर्गुण राम जपहुँ रे भाई।
कबीर अपने भाइयों को राम को जपने की सलाह देते हैं।

तुलसीदास – नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।

अर्थात् नाम ही वह आधार है जिसका स्मरण करने पर जीवन रूपी समुद्र को सुखाया जा सकता है। नाम–स्मरण की पूरी प्रक्रिया मानसिक बदलाव की प्रक्रिया है। नाम–स्मरण की प्रक्रिया के द्वारा मूलतः फिसलन को रोका जा सकता है। नाम–स्मरण की प्रक्रिया स्वायत्त मानसिक स्मरण है जो जीवन को सार्थक कर देता है –

नानक – सुमिरन करले मेरे मन,
कूप नीर बिनु धेनु क्षीर बिनु सावन मेह बिनु।
जैसे तरूवर फल बिना हीना वैसे देह श्रीराम बिना।

3. गुरू की महिमा

गुरू का शाब्दिक अर्थ भारी होता है। सामान्यतः गुरू का अर्थ श्रेष्ठ होता है। भक्ति आन्दोलन में गुरू का अर्थ सम्भावना को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा है। किसी भी व्यक्ति का जीवन गुरू के बिना, बीज में छुपे पेड़ की तरह है। गुरू निर्णायक है। गुरू के संबंध में कबीर कहते हैं –

पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि
आगे थे सतगुरू मिल्या दीपक दीया हाथि।'

गुरू मूलतः विवेक दृष्टि देता है। पूरा का पूरा भक्तिकाव्य दृष्टि मूलक है। इसलिए भक्तिकाव्य गुरू की महत्ता का बखान बार-बार करता है –

कबीर – गुरू गोविन्द दोनों खड़े काके लागू पाउ
बलिहारि गुरू आपने गोविन्द दियो बताए।

तुलसीदास – गुरू बिनु होई न ज्ञान
बिनु गुरू ज्ञान कहाँ ते पाऊँ
कीजो ग्यान हरि गुन गाऊँ।

जायसी – गुरू सूआ जेहि पंथ दिखावा .....

इस तरह से पूरा का पूरा भक्तिकाव्य गुरू कृपा से स्पंदित है। गुरू वह है जो मूलतः यात्रा के प्रस्थान बिन्दु पर है। भक्ति मार्ग पर चलने के लिए भी गुरू की कृपा अनिवार्य है।

4. संसार की निस्सारता का बयान

अति लौकिकता सामंतवाद की अपनी एक खासियत है जो मनुष्य को मानवीयता एवं ईश्वर से विमुख करती है। इसलिए भक्तिकाव्य संसार की नश्वरता की चेतावनी देता है। यह संसार सेमल के फूल की तरह है। इस प्रकार भक्तिकाव्य प्रकारान्तर से चेतावनी का काव्य भी है। एक तरह से वह मानसिक सयानेपन की तैयारी इस चेतावनी के द्वारा करता है। यह असंपृक्ति जीवन के लिए अनिवार्य है।

5. प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन

प्रेम एक अद्भुत मूल्य चेतना है। यह प्रेम जीवन को आस्वाद देता है, गति देता है और वैराट्य देता है। जीवन में सार्थकता का बोध भर देने वाली चेतना प्रेम से होकर आती है। भक्ति प्रेम स्वरूपा है। प्रेम जीवन को जीने लायक बना देता है। प्रेम की चरमता मूलतः मीरा में दिखाई देती है। प्रेम मूलतः विषाद में जीवित रहता है। सुख में उसकी पंखुड़ियां झड़ जाती हैं। अतः भक्तिकाव्य में शारीरिक उत्सव और मानसिक विषाद दोनों साथ-साथ हैं।

6. अहं का त्याग और आत्म–समर्पण

यह सामान्यतः भक्तिकाव्य की सामान्य प्रवृत्ति है। लघुता से अहंकार की भावना उत्पन्न होती है। अहंकार भक्ति विरोधी और धर्म विरोधी है। इसलिए भक्ति के लिए अहं का त्याग जरूरी है। मूलतः हम अहं की चादर से घिरे हैं जिससे विराटता से कटे हुए हैं। अहंकार अनेक पाशविकताओं को जन्म देता है। जीवन के अनेक भाग अहं से संचालित होते हैं। काम, क्रोध और लोभ जैसी प्रवृत्तियों का संबंध अहं से है। अहं के विसर्जन से ही हम सहज हो सकते हैं। इस तरह से अहं का त्याग और आत्म–समर्पण भक्ति का सोपान है।

7. लोकभाषा और लोकजीवन का चित्रण

भक्तिकाव्य मूलतः लोक जागरण का काव्य है। इसलिए लोकजीवन का चित्रण एवं लोकभाषा का ग्रहण समूचे भक्तिकाव्य में दिखाई देता है। इसके माध्यम से भक्तिकाव्य सामान्य मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य के केन्द्र में सामान्य मनुष्य ही है। तुलसी के राम के सहायक भी अयोध्या की सेना नहीं है। कबीर में लोकजीवन और लोक आकांक्षा की अभिव्यक्ति सबसे साफ दिखाई पड़ती है। पूरा का पूरा भक्तिकाव्य का मूल आधार लोकजीवन है। भक्तिकाव्य प्रकारान्तर से आभिजात्यता से कविता की मुक्ति का काव्य है।

भक्तिकाव्य की विभिन्न धाराएँ

मूलतः समूचे भक्तिकाव्य के दो रूप हैं –

1– निर्गुण काव्य
2– सगुण काव्य

निर्गुण काव्य के दो भेद किए गए –

1– ज्ञानाश्रयी धारा या संत काव्यधारा
2– प्रेमाश्रयी धारा या सूफी काव्यधारा

सगुण काव्यधारा के भी दो भेद किए गए –

1– राम काव्यधारा 2– कृष्ण काव्यधारा

(ज्ञानाश्रयी) संतकाव्य की प्रवृत्तियाँ (निर्गुण)

संत काव्यधारा मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण आयाम है जिसे आचार्य शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के रूप में संज्ञापित किया है। भक्ति कालीन काव्य में संत–साहित्य का आशय उन निर्गुण कवियों से है जिन्होंने अपनी उपासना का आधार अवतारी ईश्वर के स्थान पर गुणातीत ब्रह्म को बनाया। संत कवियों के काव्य में सामान्यतः अनुभूति की वरीयता है और सत्संगों का प्रभाव भी, इसलिए इनके साहित्य में अनेक दार्शनिक पद्धतियों और भक्ति–धाराओं का समावेश हुआ है। विद्वानों की मान्यता है कि संतकाव्य में औपनिषदिक चिन्तन, शंकर के अद्वैतवाद, नाथपंथियों की योग–साधना और सूफियों के प्रेमतत्व का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। संत काव्य का अध्ययन करते हुए उनकी निम्नांकित प्रवृत्तियां लक्षित की जा सकती हैं :

1. गुरू के महत्व की प्रतिष्ठा

संतों ने 'सद्गुरू' शब्द का प्रयोग किया है। संतकाव्य में गुरु शिक्षक नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है, संपूर्ण ज्ञान है।

वहां उसकी चर्चा ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के समानांतर की गई है। यह गुरू साधक को मायाजनित अंधकार से बाहर निकालकर ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मज्ञान के स्निग्ध आलोक में पहुंचा देता है।

'पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि
आगे थे सदगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।'

गुरू साधक को मंजिल पर पहुंचाता है और उसकी संपूर्ण साधना का नियामक होता है। इसलिए संतों ने ऐसे गुरु के प्रति अनंत कृतज्ञता की भावना ज्ञापित की है। कई बार खास कर कबीर के यहां गुरु को रंगरेज के रूप में भी चित्रित किया गया है –

'सदगुरू है रंगरेज चुनरिया रंग डाली।'

अतः गुरू महिमा या गुरु महत्व की स्वीकृति संतकाव्य की आधारभूत विशेषता है।

2. निर्गुण ब्रह्म के प्रति आस्था

संतों की साधना का आधार निर्गुण ब्रह्म है। इस ब्रह्म को संत कवियों ने सामान्यतः सगुण नामों से पुकारा है। लेकिन इन सगुण संज्ञाओं का धारक निर्गुण ब्रह्म है। इस ब्रह्म की प्राप्ति को अनुभूतिजन्य ज्ञान में ही धारण किया जा सकता है :

अबरक एक अकल अविनासी
घटि–घटि आये रहे
तोल न मोल माप कुछ नाहि
गिनती ज्ञान न होई
नासों भारी ना सोंहलहा
ताकि पारिस लखै न कोई।

संतकाव्य की साधना का मूल आधार यह निर्गुण ब्रह्म है और इस निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कोरे ज्ञान से नहीं बल्कि अनुभूतिजनित साधना के आधार पर ही संभव हो सकती है।

3. माया की भर्त्सना

संतकवियों ने माया को संपूर्ण अनर्थों का कारण माना है। यह माया साधक को पथभ्रष्ट करती है। मूल सत्य को आच्छादित करके साधक की आंखों पर असत्य का पर्दा टांगती है और मनुष्य के मन में अनंत इच्छाओं और तृष्णाओं का समावेश करके उसे आजीवन बेचैन रखती है। इसलिए संतों ने बार–बार इस माया से सावधान रहने की सलाह दी है। चूंकि यह माया समूचे जगत में व्याप्त है और भ्रम को वास्तविकता में रूपान्तरित करने की दुर्ज्ञेय शक्ति से युक्त है, इसलिए इस माया के प्रपंच को गुरू की कृपा से ही अतिक्रमित किया जा सकता है। वस्तुतः संतकाव्य में माया की मूल भूमिका साधक की ब्रह्म उपासना को बाधित करना बताया गया है –

कबीरा माया पापिनी, हरि सों करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहन न देई राम।।

जागतिक संबंधों में माया का सर्वाधिक प्रबल रूप नारी है। चूंकि नारी स्वयं मायारूपिणी है, इसलिए संतकवियों ने विशेष रूप से नारी के कामिनी रूप पर तीखे प्रहार किए हैं। नारी को इन कवियों ने नरक का कुंड, काली सर्पिणी, विष की लता और मुक्ति–साधना की सबसे बड़ी बाधक

शक्ति के रूप में चित्रित किया है। नारी के इस कामिनी रूप से केवल वे ही मुक्त हो सकते हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया हो –

नारी कुंड नरक का विरला थंभै बाग
कोई साधूजन उबरै सबजग मुआ लाग।

4. साधना पद्धति

साधना मूलतः लक्ष्य प्राप्ति की क्रियाशीलता का नाम है। संतकवियों की साधना–पद्धति का स्वरूप इकहरा नहीं है। इनका मानना है कि ब्रह्म की प्राप्ति भावना और ज्ञान के योग से संभव हो सकती है। इसलिए संत कवियों ने अपने निर्गुण ब्रह्म को लौकिक मानवीय संबंधों से संबोधित किया है। साधना के इस स्वरूप पर वैष्णव भक्ति–चिंतन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। दयालुता, भक्त वत्सलता, करुणा आदि को ईश्वर का गुण बताया गया है। वैष्णव भक्ति पद्धति के नाम स्मरण, सत्संगति, शरणागति जैसे भक्ति–मूल्यों को भी संत कवियों ने अपनाया है।

भगति भजन हरि नाम है, दूज्या दुःख अपार
मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन राम।।

अहिंसा और सदाचार को भी साधक के लिए अनिवार्य बताया गया है।

संतों की भक्ति पद्धति पर **सूफियों के प्रेमतत्त्व** का प्रभाव भी दिखाई देता है। **प्रेम–भावना की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ** संत काव्य को काव्यात्मक उत्कर्ष प्रदान करती हैं और वे साधना में साधक की अनुभूतिपरकता का भी प्रमाण उपस्थित करती हैं। आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की प्रणयपरक कविताओं को भावनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा है। ऐसी कविताओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :–

1) निसि दिन खेलत रहि सखियन संग
मोहि बड़ा डर लागे
मोरे साहब की ऊँची अटरिया
चढ़त में जियरा काँपे

2) कहै कबीर सुनो सखि मोरी
प्रेम होई सो जाने

जप तप दिसै थोथरा, तीरथ–व्रत बेसास।
सोवै सेवल सेबिया, यौं जग चला विरास।।

संतों का बलाघात मन के नियत्रण पर है। संयम एवं मानसिक नियंत्रण ही साधना को अर्थवत्ता प्रदान कर सकता है, इसलिए इन कवियों ने बार–बार मन को साधने की बात की है –

कर पकड़े अंगुरि गिनै, मन धावै चहूं ओर
जाह फिराया हरि मिला, सो भया काठ की ओर।

आस्थाजनित, भावनाजनित, निष्ठाजनित नहीं है उसका विरोध।

कथनी और करनी की अद्वैतता संतकाव्य के सामाजिक चेतना की एक विशेष प्रवृत्ति है। मनुष्य की प्रमाणिकता उसके कथन पर नहीं बल्कि कर्म पर आधारित होती है। आचरण और कथन की एकरूपता से ब्रह्म की सहज उपलब्धि संपन्न हो पाती है –

जैसी मुख ते निकसै, तैसी चाली चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहे, पल में करै निहाल।।

6. सदाचार पर बल

संतकाव्य में सदाचरण को साधक की साधना का एक अनिवार्य अंग बताया गया है। मानसिक और शारीरिक कर्म की पवित्रता इस सदाचार के महत्वपूर्ण आधार हैं। अहिंसा, दया और करूणा इस सदाचार की मूर्त अभिव्यक्तियां हैं। कबीर के पदों में इस सदाचार की महिमा बार–बार वर्णित हुई है। सदाचार की महत्ता प्रतिपादन की प्रक्रिया में ही संतकवियों ने मन की चंचलता, शरीर की नश्वरता एवं जगत की निस्सारता की चर्चा की है। सदाचारी व्यक्ति मन से नहीं, बल्कि विवेक से संचालित होता है –

क) मन के मतै न चालिए, छाड़ि जीव की बानि।

ख) मन रे तन कागद का पुतला
लागै बूंद बिनस जाई छीन में
गर्व करे का इतना।

संत कबीर बार–बार मनुष्य–जन्म की दुर्लभता की बात करते हैं और ब्रहा प्राप्ति के महान दायित्व की ओर संकेत करते हैं –

मनिषा जनम दुलम्भ है, देह न बारमबार
तरवर तै फल झर पड़या, बहुरि न लागै डार।

7. काव्य–संगठन

संतकवि प्रचलित अर्थों में रचनाकार नहीं थे। वस्तुतः कविता इन संतों का लक्ष्य नहीं थी। चेतना और अनुभूति की प्रगाढ़ता की सहज अभिव्यक्ति ही इनकी रचनाओं में हुई है, इसलिए कविता के परम्परागत प्रतिमानों की कसौटी पर इनका काव्य खरा नहीं उतरता। आचार्य शुक्ल ने संभवतः इसीलिए मार्मिकता की दृष्टि से संतकाव्य को महत्व नहीं दिया। लेकिन बाद में द्विवेदी जी ने इस काव्य की अनुभूतियों का उद्घाटन किया और यह सिद्ध किया कि अपने प्रभावात्मक रूप में यह कविता अनुभूति की उन गहराइयों तक पहुंचती है जहां तक पहुंचना किसी भी महान कविता का रचनात्मक लक्ष्य हो सकता है। लेकिन यह सच है कि काव्य–संगठन के प्रति उदासीनता संतकाव्य में सर्वत्र दिखाई देती है। अनगढ़ता संतकाव्य की एक खास पहचान है।

संतकाव्य की भाषा का स्वरूप मानक नहीं है। इसमें ब्रज और अवधी के अतिरिक्त राजस्थानी, भोजपुरी, पंजाबी जैसी प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग बहुतायत में किया गया है। संभवतः इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा था। अलंकारों की शोभा का कोई सायास प्रयास इस काव्य में नहीं मिलता। मूलतः संतकाव्य जनचेतना और जनभाषा की ऊर्जा से निर्मित काव्य है, इसलिए वह रचना के आभिजात्यवादी संस्कारों को चुनौती देता है और एक नए काव्य–प्रतिमान की मांग करता है।

संतकाव्य में सर्वत्र **मुक्तक–शैली** का प्रयोग किया गया है। निर्गुण ब्रह्म का आधार होने के कारण इस कविता में प्रबंध की कोई संभावना भी नहीं थी। **उलट–बांसियों** का प्रयोग संतकाव्य की काव्य–शैली की एक प्रमुख विशेषता है। उलटबांसियों में इन कवियों ने आध्यात्मिक अनुभवों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है।

रागग्रतः संतकाव्य हिन्दी काव्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, यद्यपि इस काव्य का सौंदर्य पक्ष बहुत उन्नत नहीं है, लेकिन इस कविता ने जिन मानवीय और सामाजिक मूल्यों पर बल दिया, वे मूल्य भारतीय संस्कृति के आधारभूत पहचान बने। इतिहास के उस मोड़ पर जहां बाह्याचारों और अंधविश्वासों के असह्य कोलाहल में धर्म की मूल चेतना लुप्त हो रही थी, इन संत कवियों ने धर्म और मनुष्यता दोनों की एक साथ रक्षा की। आचार्य शुक्ल के इस कथन से सहमत हुआ जा

सकता है – 'इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथ पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति–रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा है। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म–गौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊंचे से ऊंचे सोपान की ओर बढने के लिए बढावा दिया।'

हिन्दी सूफी काव्य परम्परा

भूमिका : हिन्दी सूफी काव्य परम्परा का सूत्रपात मुल्ला दाउद के चन्दायन से होता है जिसकी रचना 1379 ई० में हुई । यह कृति उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रचलित लोरिक एवं चन्दा की प्रेम कथा पर आधारित है। यह कृति एक विशुद्ध लौकिक कथा को एक प्रतीक व्यवस्था के द्वारा आध्यात्मिक संदर्भों में रूपान्तरित करती है। इस काव्यधारा के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि हैं – कुतुबन। उनकी कृति है मृगावती (1503–4)। तीसरे और इस धारा के शिखर कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इनकी रचनाएँ अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत हैं। पद्मावत (1527 या 1547) सूफी काव्य की चरम उपलब्धि है। शुक्ल जी जैसे बड़े आलोचक ने रामचरितमानस के बाद इसे ही स्थान दिया है। अगले महत्त्वपूर्ण कवि हैं –

मधुमालती	–	मंझन (1547)
उस्मान	–	चित्रावली (1613)
शेखनबी	–	ज्ञानदीप (1619)
कासिम शाह	–	हंस जवाहिर (1731)
नूर मुहम्मद	–	इंद्रावती (1744)
		अनुराग बाँसुरी (1764)

इस तरह से 14वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के पूरे अन्तराल में सूफी काव्य की रचना होती रही। संपूर्ण सूफी काव्य के अनुशीलन के आधार पर उसकी कुछ विशेषताएं तय की जा सकती हैं।

1) जीवन मूल्य के रूप में प्रेम की प्रस्तावना

समूचे मध्यकालीन काव्य में सिर्फ सूफी काव्य ही ऐसा है जो ईश्वरीय प्रेम के समानान्तर मानवीय प्रेम की भूमिका को भी महत्व देता है। प्रेम सूफी काव्य की सर्जनात्मक ऊर्जा भी है और

आध्यात्मिक साधना का केन्द्र भी। संसार में होने को मान लेने पर ही मूल्य का अर्थ हो सकता है। सूफियों ने मूल्य के लिए जिस चेतना की खोज की वह प्रेम था। मूल्य प्रामाणिक होने का मापदण्ड है। वह मनुष्य होने की शर्त है। मूल्य प्राकृतिक उपलब्धि नहीं है। जिस बिन्दु पर हम जैविकता से अलग होते हैं वही मूल्य का बिन्दु है। मूलतः देश और समाज के लिए सोचना मूल्य के द्वारा ही संभव हो सकता है। मूल्य का टूटना आदमी का टूटना है।

मध्यकाल में सूफियों ने प्रेम को सार्थकता के रूप में स्थापित किया। मूल्य हमारे छोटेपन को तोड़ता है और बड़ा होने का अवसर देता है। सूफियों ने मूल्य को प्रेम कहा है। भारतीय परंपरा में भक्ति को मूल्य कहा गया है। स्त्री–पुरुष का प्रेम ही मूल्य है। इसलिए जो प्रेम कर सकता है, वही आध्यात्मिक हो सकता है।

"मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी
नाहिं त काम छार भर मूठी।"

मनुष्य का प्रेम ही बैकुण्ठ यानि चरमता, अन्तिमता को दे सकता है नहीं तो यह एक मुट्ठी राख के अलावा क्या है ? प्रेम के बिना जीवन मिट्टी है। प्रेम का लक्षण निर्धारित करते हुए सूफियों ने कहा विरह ही प्रेम का लक्षण है। तमाम सूफी काव्यों में प्रेम विरह का विषय है। मूलतः प्रेम विरहानुभूति है। सूफियों का विरह आध्यात्मिक गुणों से संचालित है। जबकि भारतीय विरह में पीड़ा महत्त्वपूर्ण है।

2) सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात

भारत विभिन्न जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों का देश रहा है। लेकिन भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इस्लाम का आक्रमण और उसकी सत्ता इस समाज के लिए एक अप्रत्याशित और अपमानजनक घटना थी। इस्लाम और भारतीय समाज के बीच अनेक स्तरों पर तनावों की सृष्टि हुई और हिन्दुस्तान ने अपने लम्बे इतिहास में पहली बार एक नये सांस्कृतिक संकट का अनुभव किया। लुटेरों और आक्रमणकारियों के रूप में आने वाले मुसलमान आक्रमणकारी धीरे–धीरे यहीं बसने लगे और मुसलमानी सत्ता की स्थापना के साथ इस्लामी समाज का भी प्रसार होने लगा। इस्लामी संस्कृति और भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों और जीवन पद्धतियों में एक विचित्र प्रकार का वैविध्य था। इससे उपजे तनाव और सांस्कृतिक भिन्नता को सूफियों ने दूर करने की कोशिश की। सूफी काव्य ने इतिहास के उस मोड़ पर उस सांस्कृतिक समन्वय का सूत्रपात किया जो

भारतीय समाज और मानव मूल्यों के लिए आवश्यक थी। सामासिक संस्कृति को जीवन मूल्य और जीवन–शक्ति के रूप में प्रस्तावित करने वाले इन महान सूफी कवियों ने आधुनिक भारत की मानसिकता की नींव रखी। एक स्तर पर उन्होंने सांस्कृतिक चेतना का पुनर्गठन किया।

3) लोक कथाओं का प्रतीकात्मक रूपांतरण

सभी सूफी कवियों ने हिन्दु समाज में प्रचलित लोक कथाओं को अपने प्रबन्ध का आधार बनाया है। ये लोक कथाएं मूलतः प्रेम कथाएं हैं और इन कथाओं में प्रेम की त्रासदी को दर्शाया गया है। प्रेम के इस त्रासद पक्ष के आधार पर सूफी कवियों ने अपने काव्य की अन्तर्वस्तु की रचना की है।

4) प्रकृति का रागात्मक चित्रण

सूफी काव्य अपने आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर संपूर्ण प्रकृति को खुदा के नूर की अभिव्यक्ति मानता है। इसलिए सूफी कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति का विशद् और भावपूर्ण वर्णन किया है। संत काव्य में प्रकृति लगभग अनुपस्थित है। कृष्ण काव्य में भी प्रकृति की चर्चा सामान्यतः उद्दीपन या आलम्बन रूप में की गई है।

सूर – पिया बिन सांपिन काली रात

तुलसीदास के यहां भी ऐसा है।

घन घमंड नभ गरजत घोरा
पियाहीन मन डरपत मोरा।

सूफियों के यहाँ प्रकृति का बेहद भावपूर्ण और स्वतंत्र चित्रण किया गया है। सूफी कवि चूंकि प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण करते हुए ईश्वरीय सौन्दर्य का वर्णन करता है, अतः वह आध्यात्मिक तृप्ति का अनुभव करता है। इतने बड़े पैमाने पर प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण सामान्यतः हिन्दी काव्य परंपरा में दुर्लभ है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि सूफियों ने पहली बार प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में चित्रित किया है। वियोग के क्षणों में समूची प्रकृति दुःख में डूबी है और संयोग के क्षणों में उल्लसित और हर्षित चित्रित की गई है :

बरसै मघा झकोर – झकोरी
मोरि दुइ नैन चुवै जस ओरी

कई बार ईश्वरीय सौन्दर्य की सूचना देने के लिए सूफी कवि प्रकृति का प्रयोग करते है --

शशि मुख अंग मलय गिरिवासा
नागिन झांप लिपटै चहु पासा
ऊनै घटा परी जग छांहा
शशि के संग लिन्ह जनु राहा।

5) विरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन

सूफी काव्य की मार्मिकता का आधार प्रेम का वियोग पक्ष है। वियोग वस्तुतः संबंधों की अनुभूति का आधार होता है। वियोग का वर्णन दो कारणों से है – प्रेम की लौकिकता की मार्मिकता और प्रामाणिकता के लिए तथा आध्यात्मिक अभिप्राय के लिए। आलोचकों का मानना है कि हिन्दी कवियों के विरह–वर्णन पर ईरान के सूफियों का प्रभाव है। कई बार सूफियों के यहां विरह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण लगने लगता है। कई जगह तो वर्णन वीभत्स भी है। लेकिन सामान्यतः जायसी जैसे बड़े कवि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए भी विरह की मार्मिकता का निर्वाह करते हैं –

प्रिय से कहहु संदेशड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि भुई, तेहिक धुंआ हम लाग।।

6) गुरू की महत्ता का प्रतिपादन

गुरू सिर्फ ज्ञान प्रदान करने वाला नहीं बल्कि साधक को मंजिल तक पहुंचाने वाला साधक भी है। सूफियों का मानना है कि गुरू के बिना आध्यात्मिक अनुभूति का स्फूरण ही संभव नहीं है। वह आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं का सामना करने की शक्ति और उससे मुक्त होने का उपाय बताता है। इसलिए गुरू आध्यात्मिक साधना के प्रस्थान बिन्दु से लेकर अनुभूति की मंजिल तक साधक को प्रोत्साहित और संचालित करता है। इसलिए संत कवियों की तरह सूफी कवियों में भी गुरू के प्रति एक गहरी कृतज्ञता की भावना लक्षित होती है।

7) शैतान की अवधारणा

शैतान सूफी काव्य और सूफी साधना का एक अनिवार्य प्रमेय है। साधक और उसके लक्ष्य के बीच अनेक प्रकार की बाधाओं की सृष्टि करना शैतान की शक्ति का लक्ष्य है। शैतान की अवधारणा भारतीय अद्वैतवाद से मिलती–जुलती है। लेकिन सूफी काव्य में शैतान की भूमिका को सकारात्मक माना गया है क्योंकि शैतान द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं को तोड़कर पाया गया लक्ष्य साधक को उपलब्धि की अनुभूति से भर देता है। लौकिक स्तर पर भी शैतान जीवन को प्रामाणिकता देता है उसे संघर्ष के संवाद से भर देता है।

8) काव्य–संगठन

प्रायः सभी सूफी कवियों ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध शैली में की है। प्रबन्ध शैली में खासकर मसनबी शैली का प्रयोग किया है। मसनबी शैली की कुछ विशेषताएं ये हैं – 1. परमात्मा की स्तुति, 2. शासक की सूचना, 3. गुरू की स्तुति, 4. सात चौपाइयों के बाद दोहे का इस्तेमाल। प्रायः सभी कवियों ने चौपाई और दोहा छंदों का प्रयोग किया है। भाषा ठेठ अवधी है। इनकी लिपि फारसी है।

निष्कर्ष :

काव्य सौन्दर्य और काव्य मूल्य की दृष्टि से सूफी काव्य मध्यकालीन हिन्दी कविता की एक महत् उपलब्धि है। भावों की मार्मिकता आध्यात्मिक अनुभव और काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से इस कविता का महत्त्व तो है ही, साथ ही जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों के जिन प्रतिमानों की रचना इन सूफी कवियों ने की है वे किसी न किसी स्तर पर इस देश की महान सांस्कृतिक परंपरा के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं।

–000–

संत काव्यधारा और सूफी काव्यधारा का तुलनात्मक अध्ययन

संत और सूफी काव्यधाराएं मध्यकालीन साधना के निर्गुण संप्रदाय के अन्तर्गत आती हैं। ये दोनों धाराएं बहुदेववाद और अवतारवाद की धारणा का निषेध करती हैं और ब्रह्म की अखंडता और व्यापकता में विश्वास करती हैं। इन दोनों धाराओं का अध्ययन करते हुए इनके कुछ समान और असमय बिन्दु लक्षित होते हैं जिन्हें निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है:

समानता के बिन्दु

1) ब्रह्म का स्वरूप

दोनों काव्यधाराओं में एक अखंड और सर्वव्यापी ब्रह्म की अवतारणा की गई है। यह ब्रह्म सर्वव्यापी है और यह जगत उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जीवात्मा और ब्रह्म में मायाजनित दूरी है और इस दूरी को लांघ कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेना साधक के जीवन की सार्थकता है।

2) दोनों की काव्यधाराओं में गुरु के महत्व की अन्यतम प्रतिष्ठा है। संत काव्य में जिसे गुरु कहा गया है, सूफियों ने उसे पीर कहा है। गुरु के बिना साधना सफल नहीं हो सकती और न ही साधक अपनी मंजिल को पहचानने में सफल हो सकता है। वस्तुतः दोनों ही काव्यधाराओं में गुरु प्रकाश और ऊर्जा का केन्द्र है जो साधक में विवेक और निरंतर साधना को शक्ति प्रदान करता है। यही कारण है कि दोनों ही काव्यधाराओं में गुरु के प्रति गहरी कृतज्ञता की भावना दिखाई देती है।

3) रहस्यवादी चेतना

रहस्यवाद अपने मूल स्वरूप में अरूप और अज्ञात सत्ता के प्रति किया गया प्रणय निवेदन है। इस दृष्टि से दोनों काव्यधाराएं लौकिक प्रणय–चेतना को अलौकिक आधार देती हैं। विरह की अथाह पीड़ा और कभी खत्म न होने वाली प्रतीक्षा की बेचैनी इन दोनों ही काव्यधाराओं की रचनात्मक उपलब्धियां हैं। यद्यपि सूफी कवियों में बाहरी प्रभावों के कारण विरह का स्वरूप किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण हो गया है लेकिन उसकी मार्मिकता को इस धारा के महान कवियों ने सुरक्षित रखा है। संत काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर अपनी तमाम अक्खड़ता के बावजूद प्रणय प्रसंगों में भावनाओं और रिश्तों के एक बेहद सुकुमार दुनिया की सृष्टि करते हैं।

निज प्रियतम की आस नहीं है
नाहक काजल पारै।

3) बालम आओ हमारे गेह रे
तुम बिन दुखिया देह रे

4) विरह भुवंगम तन बसै
मंत्र न लागै कोई
राम वियोगी ना जीवै
जीवै तो बौरा होए।

मूलतः संत कवियों ने अपनी भक्ति पद्धति में सूफियों के प्रेम तत्व के आधार पर प्रणय की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। संतों के यहां विरह संबंधों और ईश्वरीय अनुभूति का मापदंड है। विरह की पीड़ा साधक को साधना के लिए प्रेरित करती है और जीवन को एक मूल्यवान सार्थकता प्रदान करती है –

विरहा बुरड़ा जिन कहौ
विरहा है सुलतान
जिहि घट विरह न संचरै
सो घट सदा मसान

IAS/PCS

विरह के साथ संतकाव्य में अनेक स्थानों पर संयोग की मार्मिक स्थितियों का चित्रण भी किया गया है। मिलन का उल्लास इस धारा के प्रतिनिधि कवि कबीर के अनेक पदों में दिखाई देता है–

दुलहिनी गावहु मंगलाचार
हम घरि आए हौ राजा राम भरितार।

अथाह विरह के साथ मिलन की घड़ी आई है और प्रियतमा बड़े यत्न से प्रियतम को अपने समूचे अस्तित्व में समो देना चाहती है –

नैनों की करि कोठरी, पुतरि पलंक बिछाए
पलकों की चिक डारि के, पिय को लियो रिझाए।

संतों की साधना–पद्धति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार **योग–पद्धति** है जिस पर नाथपंथियों का गहरा प्रभाव है। द्विवेदी जी की धारणा है कि संतों की योग–साधना में आस्था और भावनाओं का समावेश हो गया है। इसलिए इनकी योग–साधना विशुद्ध रूप से शास्त्रीय न होकर अनुभवात्मक भी हो गई है। संतकाव्य का एक बड़ा हिस्सा समाधि, शून्य, सहस्रार, इला–पिंगला–सुषम्ना, कुंडलिनी जैसे योगपरक शब्दों से/पदों से निर्मित है। योग–साधना पर विश्वास के कारण ही संतकवियों ने इस शरीर की कल्पना घट के रूप में की है और उनका मानना है कि योग की विशेष साधना के द्वारा कुंडलिनी जागृत करके अनहद नाद की उपलब्धि की जा सकती है। कबीर के अनेक पदों में इस समाधि के प्राप्त होने के संकेत दिखाई देते हैं –

कबीर कंवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर
निसी अधियारी मिट गयी, बाजै अनहद तूर।
आकासे मुख औंधा कुंआ, पाताले पनिहारि।
ताका पानी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि।।

पनिहारि कुंडलिनी, औंधा कुआं ब्रह्मरंध, हंस जीवात्मा का प्रतीक है।

5. सामाजिक–चेतना

सामाजिक चेतना संतकाव्य की रचनाशीलता का एक महत्वपूर्ण आधार है। साधनात्मक और रचनात्मक ऊर्जा की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति इन कवियों की सामाजिक चेतना में अभिव्यक्त हुई है। इन संतकवियों ने अपने काव्य में हिन्दू समाज की **वर्ण–व्यवस्था** के अतिरिक्त **धार्मिक पाखंडों, बाह्याचारों** एवं **अंधविश्वासों** को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया है। जन्म के आधार पर मनुष्य की कोटियां निर्धारित करने वाली वर्ण व्यवस्था की अंधता और विवेकहीनता को इन कवियों ने बार–बार उद्घाटित किया है। इन कवियों की मान्यता है कि ईश्वर की बनायी हुई इस सृष्टि में सभी समान हैं इसलिए वे अपूर्व आत्मविश्वास के साथ ब्राह्मण और शूद्र में भेद करने वाली जीवन दृष्टि को ललकारते हैं –

जे तू बाह्मन बमनी जाया,
आन बाट काहे नहीं आया।

इसके अतिरिक्त संतकवियों ने समाज में प्रचलित अनेक बाह्याचारों की निरर्थकता पर भी प्रकाश डाला है। एक स्थान पर कबीर कहते हैं –

4) संत और सूफी काव्यधाराओं में क्रमशः माया और शैतान की अवधारणा की गई है। यह सच है कि माया और शैतान की अवधारणाएं अक्षरशः एक–दूसरे की पर्याय नहीं हैं लेकिन ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में बाधक शक्ति के रूप में दोनों की भूमिकाएं एक जैसी हैं।

असमानता के बिन्दु

1) सूफियों के एकेश्वरवाद और संतकाव्य की अद्वैत–चेतना में बुनियादी फर्क है। सूफी खुदा को एक मानते हैं और पूरी सृष्टि को उसके अप्रतिम सौंदर्य का प्रतिबिम्ब। इसलिए सूफी साधक इस जागतिक सौंदर्य को ब्रह्मानुभूति की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करता है। ब्रह्म और साधक के रूप में फैला हुआ यह जगत एक सफर है जिससे गुजर कर साधक ब्रह्म तक पहुंचता है। इसलिए संतकाव्य के विपरीत सूफी काव्य में इस जगत के प्रति गहरी आसक्ति और भावात्मक तन्मयता की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

2) संत साधक ब्रह्म को ज्ञानगम्य मानते हैं और इसीलिए उसकी प्राप्ति के लिए ये योग साधना की प्रस्तावना करते हैं। यद्यपि कबीर जैसे महत्वपूर्ण संत कवियों ने अनुभूति युक्त ज्ञान की निर्बलता पर प्रहार किया है लेकिन संत साधना की समूची संरचना के केन्द्र में ज्ञान ही है। संत काव्य में गुरू भी ज्ञान का उपदेश देता है और ब्रह्म की अनुभूति भी एक स्तर पर ज्ञानानुभूति ही होती है। इस प्रकार साधना की आरंभिक प्रक्रिया से लेकर ब्रह्मानुभूति तक में ज्ञान की केंद्रीय भूमिका दिखाई देती है। सूफी साधक अपनी संपूर्ण साधना में ज्ञान का आद्यंत निषेध करते हैं। उनका खुदा भी प्रेममय है और उनका गुरू भी प्रेम का उपदेश देता है। उनकी समूची साधना–प्रक्रिया भी प्रणय के गहरे आवेशों के भीतर संचालित होती है। प्रेम की इस केंद्रीयता के कारण ही संभवतः इस काव्यधारा को प्रेमाख्यान काव्यधारा के रूप में भी जाना गया है। वस्तुतः सूफियों के यहां प्रेम जीवन का चरम मूल्य है जो ब्रह्म की तरह ही साधना की पहली मंजिल से लेकर आखिरी मंजिल तक परिव्याप्त है। यह प्रेम आरंभिक अवस्था में लौकिक स्तर पर घटित होता है और उसकी परिणति अंततः इश्क हकीकी में होती है जहां प्रेम आध्यात्मिक प्रतीकों के आलोक में उद्भाषित हो उठता है।

3) रहस्यवाद

दोनों ही साधना–पद्धतियों में यद्यपि रहस्यवादी चेतना दिखाई देती है लेकिन उनके स्वरूप में किंचित भिन्नता भी है। संतों के यहां ब्रह्म पुरुष है और आत्मा स्त्री है इसीलिए स्वयं को

विरहीणि मानकर साधक मार्मिक शब्दों में अपने पुरुष का आह्वान करता है। लेकिन सूफी साधना में स्थिति इसके विपरीत है। वहां ब्रह्म स्त्री रूप है और साधक पुरुष रूप। साधक इस ब्रह्म के प्रति निर्बाध आकर्षण के वशीभूत होकर भटकता है और गुरू के निर्देशों से अंततः उसे प्राप्त करने में सफल होता है। संतों के रहस्यवाद में योग–साधना पद्धति के प्रसंगों को उलटबांसियों के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिन्हें शुक्ल जी ने साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः साधनात्मक रहस्यवाद संत काव्य में भावनात्मक रहस्यवाद के समानांतर चलने वाली धारा है जबकि सूफी काव्य में यद्यपि कहीं कहीं योग–साधना की शब्दावलियों का प्रयोग मिलता है लेकिन वह अपवाद स्वरूप ही है। सूफी साधना का मूल आधार भावनात्मक रहस्यवाद ही है।

4) नारी की स्थिति

संत काव्य में नारी अनिवार्यतः मायारूपिणी है और वह साधक और ब्रह्म के बीच अनन्त भटकावों और दूरियों की सृष्टि करती है। इसलिए संत कवियों ने बार–बार साधक को नारी से दूर रहने का उपदेश दिया है। लेकिन सूफी साधना में नारी के प्रति गहरे आकर्षण को ब्रह्म प्राप्ति के लिए लगभग अनिवार्य माना गया है। उनकी साधना में इश्क मजाजी के बगैर इश्क–हकीकी तक पहुंचा ही नहीं जा सकता। इसलिए सूफी काव्य में नारी बाधक नहीं बल्कि वह ब्रह्मानुभूति का आरंभिक सोपान है।

5) काव्य-संगठन

काव्य संगठन के धरातल पर सूफी काव्य का ढांचा प्रबन्धात्मक है जबकि संत काव्य आद्यन्त मुक्तक शैली में लिखा गया है। वस्तुतः सूफी काव्य लौकिक प्रेम संबंधों से निर्मित होने के कारण कथा का आश्रय लेता है और कथा अनिवार्यतः सामाजिक संबंधों से ही निर्मित होती है इसलिए प्रबंधात्मकता के मूल बीज सूफी साधना के दार्शनिक चेतना में ही निहित हैं। संत कवियों की साधना में सामाजिक संबंधों की भूमिका पूर्णतः अनुपस्थित है, वहां साधना और साध्य के बीच प्रणयानुभूति की प्रक्रिया में संबंधों की लौकिक संज्ञाओं का प्रयोग तो हुआ है लेकिन वह सामाजिक संबंध–विघटन के अन्तर्गत नहीं है। इसीलिए स्वभावतः संत कवियों की शैली मुक्तक है।

संत कवियों का भाषिक–संगठन अव्यवस्थित है। शायद इसीलिए आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा है। इसमें भोजपुरी, ब्रजी, अवधी, राजस्थानी और पंजाबी के शब्दों का मिश्रण दिखाई देता है। जबकि सूफियों की काव्य भाषा सर्वत्र ठेठ अवधी है।

समग्रतः संत और सूफी काव्य धाराएं मध्यकालीन निर्गुण साधना की दो निष्पत्तियां हैं जो किन्हीं बिन्दुओं पर समान होते हुए भी अपनी साधना और प्रभाव में भिन्न हैं। संत काव्य ज्ञानावेश के कारण वर्ण–व्यवस्था और धार्मिक बाह्याचारों पर ध्वंसात्मक प्रहार करता है लेकिन सूफी साधक संपूर्ण सृष्टि को प्रेममय मानने के कारण खंडनात्मक शैली का प्रयोग नहीं करते। वे प्रेम से जगत को समझना और बदलना चाहते हैं इसलिए आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में ठीक ही कहा है कि 'संत कवियों के फटकार का जीवन–मूल्यों और संस्कृति पर उतना असर नहीं हुआ जितना सूफियों के प्रेम संदेशों का।'

–000–

उपासना की जा सकती है और इसे ज्ञान के मार्ग से नहीं भक्ति के मार्ग से पाया जा सकता है। बल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को ब्रह्म प्राप्त करने का मार्ग बताया।

पुष्टिमार्ग उपासना का नहीं सेवा का मार्ग है। पुष्टि मार्ग को परिभाषित करते हुए हरिराय जी ने लिखा है – "जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु प्राप्ति में साधन बनती है, जिस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा आध्यात्मिक सीढ़ियों का हेतु बन जाता है, जहां कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जहां प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है, जहां भगवान की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग में ही संयोग सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है वही पुष्टि मार्ग है।" इस परिभाषा से पुष्टिमार्ग की निम्नांकित विशेषताएं सामने आती हैं:–

1. पुष्टिमार्ग में साधनों की शून्यता होती है
2. प्रभु का अनुग्रह
3. लौकिकता और आध्यात्मिकता का अन्तर्भाव
4. प्रयत्नहीनता
5. देह सम्बन्धों की स्वीकृति
6. वियोग की प्रमुखता

इन तमाम बिन्दुओं से मिलकर जो रास्ता बनता है वह पुष्टि मार्ग है।

पुष्टि मार्ग में आध्यात्मिकता और लौकिकता का अपूर्व समन्वय किया गया है। अपने मूर्त रूप में पुष्टि भक्ति लौकिक है और अपने निहितार्थ में आध्यात्मिक। इसमें श्रद्धा और आत्म निवेदन के स्थान पर प्रेम तत्त्व को अपनाया गया है। बल्लभाचार्य की मान्यता थी कि जब ईश्वर का अनुग्रह होता है, तभी भक्त और भगवान में अनुभूति का सूत्रपात होता है।

बल्लभाचार्य ने जीव के तीन प्रकार माने –

1) प्रवाह जीव : जो संसार के प्रवाह में पड़े रहते हैं और सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लगे रहते हैं।

2) मर्यादा जीव : जो वेद और कर्मकाण्डों की विधियों से मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

3) पुष्टि जीव : जो भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करते हैं और उसकी नित्य लीला में भाग लेते हैं।

इसी पुष्टि मार्ग के आधार पर बल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की।

अष्टछाप

अष्टछाप का दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत है और भक्ति मार्ग पुष्टिमार्ग है। अष्टछाप इन आठ कवियों को लेकर निर्मित हुआ, जिसमें चार बल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार विट्ठलनाथ के।

- बल्लभाचार्य के शिष्य : सूरदास, कृष्णदास, परमानंद दास और कुंभनदास
- विट्ठलनाथ के शिष्य : नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी

इनमें दो सबसे महत्त्वपूर्ण कवि सूरदास और नंददास हैं। सूरदास शीर्षस्थ कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है –

"आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठी, जिसमें सबसे ऊंची, सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"

कृष्ण काव्य का एक बड़ा हिस्सा ऐसे कवियों द्वारा भी रचित है, जो अष्टछाप के बाहर के हैं। मीरा और रसखान के नाम अष्टछापेत्तर कवियों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्ण काव्य का अनुशीलन करते हुए उसकी निम्नांकित प्रवृत्तियां लक्षित की जा सकती है।

कृष्ण काव्य की प्रवृत्तियाँ

लोक रंजन कृष्ण काव्य की आधारभूत विशेषता है। संत काव्य धारा, प्रेमाश्रयी काव्य धारा और राम काव्यधारा इन तीनों के केन्द्र अलग–अलग हैं। संत काव्य का केन्द्र ज्ञान और प्रेमाश्रयी काव्यधारा का केन्द्र प्रेम है। संत काव्यधारा ज्ञान पर आधारित है। यही कारण है कि ब्रह्म चिन्ता जैसा विषय सामाजिकता से टकराने लगता है। संतों ने ज्ञान का प्रयोग चतुर्दिक किया है। विरोध और आत्मज्ञान की निरंतरता संत काव्य की विशेषता है। संतों के ज्ञान की सार्थकता प्रश्न उठाने और शास्त्र को अनुत्तरित करने की है। ज्ञान की मूल प्रकृति प्रश्नात्मक होती है। संत काव्यधारा के केन्द्र में लोकरंजन नहीं है।

सूफी काव्यधारा में प्रेम मुख्य समस्या है। प्रेम मार्ग के माध्यम से ही जीवन को सार्थक किया जा सकता है। जायसी का मूल संदेश यह है कि मोक्ष को शक्ति से उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। सत्ता से जो कुछ उपलब्ध होगा वह निरर्थक होगा। मूलतः सत्ता से शून्य, राख, मिट्टी अर्थहीनता हासिल हो सकती है। प्रेम से जो प्राप्त होगा वही आस्वाद होगा। इसलिए जायसी ने पदमावत में लिखा है –

मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी
नाहिं त काहि छार भर मूठी।

राम काव्यधारा विशेषकर तुलसी की पूरी कविता एक तरह से सामाजिक पुनर्गठन है। इस कविता के केन्द्र में लोकमंगल है। तुलसी मूलतः समाज की चिन्ता से बद्ध है। तुलसी को किसानी संस्कृति के कवि के रूप में जाना जाता है। यह मूलतः मर्यादा संस्कृति है। तुलसी में तोड़ने की प्रवृत्ति नहीं है उनमें समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

पूरे कृष्ण काव्य के केन्द्र में रंजन है। रंजन का एक अर्थ आनन्द भी होता है। ब्रह्म की चिन्ता करते हुए शंकर ने उन्हें सच्चिदानन्द कहा है। ब्रह्म का पर्याय है लीला। यह लीला आदिम पुरूष और आदिम नारी की प्रणय गाथा से होता है। आनन्द का दूसरा रूप वात्सल्य का होता है। इस आनन्द के दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में बाल कृष्ण और दूसरे अध्याय में किशोर कृष्ण। समूची कविता इन दो बिन्दुओं से संचालित है। इसके आधार पर हम कृष्ण काव्य की विशेषता का अध्ययन करेंगे। ब्रह्म की दो शक्ति हैं लोकरंजन और लोक रक्षण की। लोक रक्षण से तुलसी की विशेषता और लोक रंजन से सूर की विशेषता को जानते हैं। इस आधार पर सूर काव्य की निम्नांकित विशेषताओं की पहचान की जा सकती है –

1) प्रेम की विराट परिकल्पना

भक्ति हृदय का धर्म है और हृदय के धर्मों में सर्वाधिक उदात्त और व्यापक धर्म है प्रेम। यही प्रेम भक्ति का मूल भाव है और संपूर्ण भक्ति काव्य का बीज है। इसलिए यह प्रेम मध्यकाल में मनुष्य को जाति, धर्म आदि सभी सीमाओं से ऊपर उठाता है। प्रेम या भक्ति मनुष्य को सत्ता के भय से मुक्त करता है। इसलिए इस प्रेम की भूमिका क्रांतिकारी है। यही प्रेम विभिन्न काव्य धाराओं को एक दूसरे से जोड़ता है, और इस तरह यह प्रेम व्यापक मानव भाव भूमि पर मनुष्य मात्र को

एकता का आधार बनता है। यही कारण है कि समूचे भक्ति काव्य में सांप्रदायिकता के चिह्न नहीं दिखाई पड़ते।

सूर के यहां इस प्रेम की प्रकृति विशिष्ट है। सूर की प्रेमानुभूति की अथाह गहराई और अपार विविधता का अक्षय श्रोत प्रेम का लौकिक अनुभव है, शास्त्र नहीं । कहा जा सकता है कि सूर का पूरा प्रेम अनुभव के भीतर से उठता है और जीवन के आकाश तक छा जाता है। यह प्रेम सभी प्रकार के वेदों का अतिक्रमण करता है। जिस प्रकार कबीर का ज्ञान रूढ़ियों को तोड़ता है उसी प्रकार सूर के यहां प्रेम रूढ़ियों को तोड़ता है। खुले चारागाह, वंशीवट, वृन्दावन के कछारों में सूर की कविता विचरण करती है। एक तरह से मध्यकाल या सामंती काल की शारीरिक बन्धनों से सूर की गोपियों को प्रेम मुक्त कराता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि राधा का प्रेम सामंती बन्धनों से बाहर है। यह प्रेम शरीरवाद को चुनौती देता है। इसलिए यह प्रेम राजप्रासादों को नकारता हुआ प्रकृति के छंद में एकता उत्पन्न करता है। सूर के प्रेम में व्यभिचार नहीं है। स्वयं प्रकृति उल्लास से भरी है। ऐसी स्थिति में मूलतः प्रेम शरीर के स्तर पर है और इसका मंच है प्रकृति।

सूर का प्रेम स्वच्छंद प्रेम है। स्वच्छंद प्रेम कमरे में नहीं हो सकता। उसके लिए परिवेश का स्वच्छंद होना जरूरी है। प्रकारान्तर से सूर का प्रेम दैहिक घर्षण या भोग को नकार देता है। मिलन की इतनी तीव्रता इस प्रेम में है कि वह विराटत्व को प्राप्त करती है सूर का प्रेम होने में फर्क डालता है। जो प्रेम होने में फर्क डाल दे वही वस्तुतः प्रेम है। सूर का प्रेम लौकिक है इसलिए सूर का प्रेम आनुसंगिक नहीं है। कई व्यापारों में से एक व्यापार नहीं, संपूर्ण व्यापार है। इसके दोनों पक्ष संयोग और वियोग का प्रयोग किया गया है। प्रेम जीवन का अनिवार्य और सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है। सूर की प्रेमानुभूति संयोग और वियोग के तटों के बीच प्रवाहित है। संयोग के क्षणों में सूर ने प्रणय व्यापारों के सभी पहलुओं का अकुंठ मन से चित्रण किया है। इसमें कृष्ण और राधा के सौन्दर्य उनके प्रणय व्यापारों और आलिंगन, चुंबन और रति व्यापारों तक का चित्रण सूर ने अपनी कविताओं में किया है –

"गगन घहराइ जुटि घटा कारी"

सामान्य प्रणय व्यापारों से मांसलता के चरम बिन्दु तक के तमाम प्रसंगों का चित्रण सूर ने अपनी कविता में किया है।

आचार्य द्विवेदी के शब्दों में – "नव गुपाल और नवेली राधा के नये प्रेम की धार-सार वर्षा से सूरसागर उद्वेलित हो उठा है।"

"कबहु क बैठि अस भुज घटि के पीक कपोलन दागे
अति रस रास लुटावत लुटत लोचन लगे सभागे
घुमत अंग परस्पर जनजुग चंद करत हित बारि
रसन दसन भरि वापि चतुर अति करत रंग विस्तारि।"

रंग विस्तार के अनेक प्रसंगों का सूर ने बिम्ब के धरातल पर अपनी कविताओं में मूर्त किया है।

सूर के प्रेम चित्रण की मार्मिकता का आधार प्रेम का वियोगात्मक पक्ष है। वस्तुतः प्रेमानुभूति की गहनता का मूल आधार प्रिय की अनुपस्थिति ही होती है। सूर की प्रेमानुभूति मेले के उत्सव के उजड़ जाने के बाद उत्पन्न हुए विराट सन्नाटे और गहरी उदासी से आवेशित जान पड़ती है।

सूर इस वियोग के माध्यम से नारी हृदय की कोमलता का आर्द्र चित्रण करते हैं। वियोग के क्षणों में समूची प्रकृति राधा और गोपियों के दुःख से प्रवाहित जान पड़ती है। सूर ने इस वियोग का चित्रण अलंकार के स्तर पर किया है। अतः उसमें एक स्वाभाविकता और मार्मिकता विद्यमान है–

1) "आज रैन न नींद परि
जगत जगत गगन के तारे
रसना रहत गोविन्द हरि।"

2) मेरे नैना विरह बेलि बई
सिंचत नैन नीर के सजनि, भूल पठार गई।

सूर का विरह पाठक को चमत्कृत नहीं करता, पाठक को छूता है। प्रेम को महाकाव्यात्मक आयाम सूर ने मुक्तक के माध्यम से दिया है।

2) लीलावाद की अभिनव अवधारणा

कृष्ण काव्य परंपरा में परम ब्रह्म कृष्ण के लौकिक व्यवहारों को लीला के रूप में चित्रित किया गया है। यह लीला कृष्ण जन्म से लेकर उनके किशोर होने तक की संपूर्ण क्रिया व्यापारों में

परिव्याप्त है। सूरदास के अनेक पदों में शिशु कृष्ण की अनेक चेष्टाओं में आध्यात्मिक संदर्भों के संकेत दिखाई देते है। चित्त की निर्विकारिता और मानवीय आचरण की मूर्तता के समानांतर रिश्ते को ही लीला के नाम से जाना जाता है। सूर ने शिशु–व्यापारों और प्रणय व्यापारों का विशद चित्रण अपने काव्य में किया है। वात्सल्य और प्रणय कृष्ण परंपरा की केन्द्रीय धारा है। विद्यापति से लेकर भारतेन्दु तक यह धारा अखंड है। इसकी अभिनवता आध्यात्मिकता और लौकिकता की समानांतर और सघन उपस्थिति में है –

कर पग गहि अंगूठा मुख मेलत
प्रभु प्रौढ़े पालने अकेले हरसि हरसि अपने रंग खेलत।
लिडरि चलै घन प्रलय जान कै, दिगपति दनीनि संकेलत

इस लीलावाद का मूल आधार पुष्टिमार्गीय भक्ति है जहां भक्ति ईश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न होती है–

जापर दीनानाथ ढरै,
सोइ कुलीन, बड़ौ सुन्दर सोइ, जापर कृपा करै।"

निर्गुण काव्य में ब्रह्म की अनुभूति गुरू कराता है, लेकिन कृष्ण काव्य में गुरू कहीं नहीं है। यह ईश्वर के अनुग्रह से ही होता है। कृष्ण से सीधा संबंध है – मोक्ष नहीं चाहिए, कृष्णाश्रय चाहिए, उसकी लीला भक्ति में भाग लेना उनके जीवन की चरम सार्थकता है। राम काव्यधारा राम के अनुग्रह को मानती है, लेकिन वहां राम लीला नहीं करते। राम का उद्देश्य अपने समाज की प्रतिमानवीय शक्तियों से जूझना है और नये मूल्य, नये समाज की रचना करना है। राम की यह पीड़ा कर्मशीलता के प्रति श्रद्धा भक्ति है। वे क्षतिग्रस्त धर्मव्यवस्था और बिखरती हुई समाज व्यवस्था को एक नया आयाम, नई दिशा देते हैं।

कृष्ण भक्तों की कामना है कि वे भी लीला के साक्षी बने। राम भक्तों के यहां दास्य भाव है पर कृष्ण भक्तों के यहां इसलिए साख्य भाव है। रासलीला में दास बनकर भाग नहीं लिया जा सकता सखा बन कर ही लिया जा सकता है। भक्ति काल के अन्य तीनों काव्य धाराओं में यह आधार नहीं दिखाई पड़ता। निर्गुण की भक्ति का आधार ज्ञान और अनुभव का संयोग है। ज्ञान ब्रह्म के अस्तित्व का आधार है जिसे गुरू अनुभव कराता है। ज्ञान के बाद अनुभव की प्रक्रिया चलती है। कबीर की भक्ति ज्ञान और अनुभव के अद्वैत पर आधारित है। इसलिए वह निर्गुण के प्रति भी अनुभूतिमूलक संबंध जोड़ती है।

संतों के यहां भक्ति साधक और साध्य को जोड़ने वाली है, जो ज्ञान अनुभव और योग साधना से पैदा होती है।

सूफियों के यहां भक्ति का आधार प्रेमानुभूति है। प्रेमानुभूति का गहरा अनुभव जब साधक में उतरता है तो वह दिव्यता को प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता है।

कृष्ण काव्य में भक्ति का आधार पुष्टि है, अनुग्रह है। अनुग्रह करके तब भक्त को अपनी निजता में शामिल करता है। ब्रह्म की निजता में शामिल होना ही भक्ति की सार्थकता है।

3) वात्सल्य का विशद् चित्रण

कृष्णकाव्य में वात्सल्य का विशद चित्रण हुआ है। सूरदास के संबंध में आचार्य शुक्ल का वक्तव्य है, "श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहां तक इनकी दृष्टि पहुंची है वहां तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।" यानि प्रेम और वात्सल्य की सभी संभावनाओं को सूरदास ने अपनी कविता में रखा है।

वस्तुतः वात्सल्य को भावना और सर्जन के चरम बिन्दु पर पहुंचाने का काम सूर ने किया। कृष्ण को ब्रह्मत्व के आलोक से हटाकर लोकभूमि पर चित्रित करना सूर के वात्सल्य की सबसे बड़ी विशेषता है। सूर की कविता शिशु कृष्ण के क्रिया–कलापों और उसके मनोविज्ञान का विराट संसार रचती है और उसमें माता–पुत्र की सभी छवियों का चित्रण हुआ है। सूर ने पहली बार कविता में वात्सल्य को स्वतंत्र विषय के रूप में ग्रहण किया और उसे रचनात्मक गरिमा प्रदान की।

महान कविता लोकजीवन और जनजीवन की सामान्यता में अपने को अन्तर्चित्रित करती है। समाज और जीवन की वास्तविकताएं कविता में घुल–मिल जाती हैं। वह एक ऐसा संसार रचती है जिसमें समाज के अनेक मार्मिक पहलू दिखाई देते हैं। कृष्ण के जन्म से लेकर शिशुता की आखिरी सीमा तक की अवधि में मां यशोदा के अनेक स्वाभाविक अरमानों के मार्मिक चित्र सूर ने दिये हैं। मूलतः सूर का वात्सल्य, चारागाही संस्कृति का वात्सल्य है। कुछ चित्रण द्रष्टव्य हैं –

चलते कृष्ण : "सोभित कर नवनीत लिए
घुटरून चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।"

बोलते कृष्ण : मैया कबहुँ बढ़ेगी चोटी
- कितै दिवस मोहि दूध पिवत भये, यह अजहूँ है छोटी।"

सूर ने बच्चे की तमाम मनोवैज्ञानिक स्थितियों और छवियों को अनेक पदों में ढाला है। बाल मनोविज्ञान की अद्भुत पकड़ सूर में दिखाई पड़ती है। बाल मनोविज्ञान में अपनी श्रेष्ठता की दृष्टा प्रबल है :—

"मैया दाऊ बहुत खिजायो
गोरे नन्द यशोदा गोरी
तू कति श्याम शरीर
ताली दे दे हसत ग्वाल सब सिरख देत बलबीर।"
"काहे को आरि करत मोरे मोहन
यों तुम आँगन लेटी।"

सूर के वात्सल्य का एक बहुत ही मार्मिक पक्ष वियोग पक्ष भी है। मातृ–हृदय की संपूर्ण मार्मिकताएं कविता के रूप में साकार हो गई हैं —

"संदेसो देवकी सो कहियौ
हौं तो धाई तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।"

कृष्ण की अनुपस्थिति में अनेक प्रकार की आशंकाओं और उसे दंडित करने की स्मृति से उत्पन्न पीड़ाओं के मार्मिक चित्र भी सूर ने खींचे हैं —

"यद्यपि मन समझावत लोग शूल होत
नवनीत देख मेरे मोहन के मुख जोग।"

वात्सल्य चित्रण की दृष्टि से विश्व साहित्य में सूर की कविता अद्वितीय है। वात्सल्य चित्रण की प्रक्रिया में सूर बालक कृष्ण की क्रीड़ाओं का चित्रण भर नहीं करते बल्कि यशोदा की ममता और कृष्ण की शिशु चेष्टाओं के बीच मार्मिकता के बिन्दुओं की सही पहचान करते हैं। सूर का वात्सल्य कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा चले जाने तक की अवधि में परिव्याप्त है। संयोग वात्सल्य के अन्तर्गत सूर ने विशेष रूप से कृष्ण और यशोदा के माध्यम से मां और बेटे के अनेक संबंध छवियों को साकार किया है। इस प्रक्रिया में सूर की कविता गार्हस्थिक जीवन के अनेक पहलुओं और उसकी स्वाभाविकताओं को प्रत्यक्ष करती है। सहजता और मनोवैज्ञानिकता सूर के वात्सल्य के आधार बिन्दु हैं। यही कारण है कि सूर के वात्सल्य में सार्वभौमिकता की शक्ति और संभावना है। भारतीय समाज व्यवस्था में गार्हस्थिक जीवन की गतिविधियों के जीवन्त और संवेदनशील पक्षों का उद्घाटन सूर ने वात्सल्य के माध्यम से किया है। सूर के वात्सल्य में कविता

और जीवन की अद्वैतता दिखाई देती है। और यही कारण है कि शताब्दियों बाद भी कृष्णकाव्य अपनी धुरी पर ताजा और प्रासंगिक है।

4) युग यथार्थ की अनुपस्थिति

सूर की कविता का संबंध वात्सल्य और शृंगार से है। वात्सल्य और शृंगार दोनों ही पारिवारिक और वैयक्तिक मसले हैं। इस तरह सूर की कविता की अन्तर्वस्तु का क्षेत्र बहुत सीमित है। इसे रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है –

'यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिचित दिखाई देती है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु गांभीर्य नहीं है, जो गोस्वामी जी की रचनाओं में हैं।'

सूर ने वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में अपनी कवि प्रतिभा और अनुभूतिशीलता की क्षमता का परिचय दिया है। उनके प्रायः सभी पक्षों का सूर ने अत्यंत मार्मिकता के साथ चित्रण किया है, लेकिन उनकी कविता में अपने समकालीन जीवन की परिस्थितियों और जीवन यथार्थों के चित्र प्रायः दिखाई नहीं देते। राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से पददलित भारतीय समाज की पीड़ाएं उनकी कविता में अनुपस्थित हैं और सामाजिक जीवन की विषमताओं एवं संघर्षों के चिह्न भी उनकी कविताओं में नहीं हैं। ऐसा लगता है कि सूर की कविता एक सुहावना सपना है, जो अपने समय के यथार्थ से पूरी तरह असंपृक्त है। संभवतः इसलिए सूर की कविता आह्लादित तो करती है, लेकिन ऐतिहासिक मनुष्य और समाज को समझने में कोई मदद नहीं करती। लेकिन नवनीत, बांसुरी और प्रणय लीलाओं से सजी–धजी इस कविता ने निश्चय ही मुरझाते हुए जीवन में जीने की चाह की रक्षा की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में –

"मनुष्यता के सौन्दर्य को और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"

कविता की भूमिका अगर जीवन में संगीत और अनुभूति को जीवित रखना है तो सूर की कविता अपने इस दायित्व का सफल निर्वाह करती है।

5) भ्रमरगीत में मौलिक उद्‌भावनाओं का सन्निवेश

पहली बार भ्रमरगीत श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कंध में दिखाई देता है। सूर के यहां भ्रमरगीत में मौलिक उद्‌भावनाओं का सन्निवेश किया गया है। गोपियां यहां सीधे निर्गुण और सगुण ब्रह्म के शास्त्रार्थ में हिस्सा लेती हैं। भावनाओं के सामने उसका पूरा ब्रह्म ज्ञान समाप्त हो जाता है। भक्ति और ज्ञान के बीच का शास्त्रार्थ सूर ने भ्रमरगीत के माध्यम से कराया है। भागवत में वह ऐसा नहीं है। वहां ब्रह्म ज्ञान की निरर्थकता और कृष्ण की रसिकता के प्रति आक्रोश भर है। अंत में गोपी कहती हैं –

"उद्धव कोकिल कूजत कानन
तुम हमको उपदेश करत हो भस्म लगावत आनन।"

पूरे के पूरे ब्रह्मज्ञान को अनपढ़, सरल गोपियां भक्ति और भावना के आवेश से नेस्तनाबूद कर देती हैं। उद्धव रोते कलपते वापस जाते हैं। भ्रमरगीत प्रसंग आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान और भक्ति की टकराहट में भक्ति को सर्वोपरि ठहराता है तथा निर्गुणोपासना की श्रेष्ठता पर बल देता है। वैष्णव काव्यधारा यद्यपि निर्गुण की सत्ता को स्वीकार करती है लेकिन भक्ति के लिए वह उसके सगुण रूप को अनिवार्य मानती है। सूरदास और तुलसीदास सगुण काव्यधारा के दोनों ही महान कवियों ने ब्रह्म के सगुण रूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया है। सूर के अनुसार –

"अविगत गति कुछ कहत न आवै
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुण पद गावै।"

इसी सगुण की दार्शनिक स्थापना के लिए सूर ने भागवत के दशम स्कंध में वर्णित भ्रमरगीत प्रसंग को आधार बनाया है। भागवत में भ्रमर प्रसंग उद्धव के ब्रह्म ज्ञान की अर्थहीनता और कृष्ण की रसिकता के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है, लेकिन सूर ने इस प्रसंग को एक दार्शनिक विवाद के रूप में परिणत कर दिया है। सूर का भ्रमरगीत ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप को लेकर की गई एक बहस है, जो मध्यकाल का सर्वाधिक जीवंत संदर्भ है। भ्रमरगीत की उद्‌भावना सूर ने ज्ञान की तुलना में भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए की है –

"सुन गोपी हरि को संदेश
करि समाधि अंतरगत चितवौ प्रभु को यह उपदेश।
वै अविगत अविनासी पूरन, घटि–घटि रहैं समाय।

तिहि निश्चय कै ध्यावौ ऐसे रचित कमलनयन लाए।

गोपियां ज्ञान की तुलना में राग चेतना का तर्क देती है --

उद्धव कोकिल कूजत कानन
तुम हमको उपदेश करत ह्वै भस्म लगावत आनन।'

गोपियां उद्धव के ब्रह्मज्ञान की निरर्थकता और थोथेपन को अपनी भावना और रागधर्मिता से ध्वस्त करती हैं। वस्तुतः ज्ञानगम्य निर्गुण ब्रह्म की अर्थहीनता का उद्घाटन और सगुण ब्रह्म के प्रति भक्ति की सार्थकता की स्थापना भ्रमरगीत प्रसंग का केन्द्रीय निहितार्थ है और सूर इसमें पूर्णतः सफल रहे हैं।

6) जातीय सामासिकता की भाव–सर्जना

कृष्ण काव्य सौन्दर्य और राग पर आधारित होने के कारण मनुष्य और समाज में भेद करने वाली स्थितियों का अतिक्रमण करता है। कृष्ण काव्य प्रेम, भक्ति, सौन्दर्य जैसे शाश्वत तत्त्वों पर लिखा गया है। अतः कृष्णकाव्य में स्वभावतः जातीय सामासिकता ढल पड़ी है और कृष्ण के माध्यम से भाव–सर्जना हुई है। कृष्ण काव्य का क्षेत्र यद्यपि परिचित है, लेकिन प्रेम और सौन्दर्य पर आधारित होने के कारण यह मनुष्य मात्र के हृदय को स्पंदित करने वाला है। प्रेम और सौन्दर्य प्रत्येक देश काल के समाज और मनुष्य के लिए परिचित और आत्मीय प्रसंग रहे हैं। इसीलिए कृष्ण काव्य में निहित इनका प्रभाव क्षेत्रीय न होकर अखिल भारतीय रहा है। सामासिकता भारतीय समाज और संस्कृति की ऐतिहासिक विशेषता है और कृष्णकाव्य अन्तर्वस्तु के धरातल पर इस सामासिकता को जीवन के भाव प्रसंगों में परिणत करता है।

रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य के अखिल भारतीय स्तर पर व्यापक होने का कारण प्रेम और सौन्दर्य के प्रसंग हैं। यही कारण है कि कृष्णकाव्य इस देश की सांस्कृतिक राग धर्मिता का प्रतीक भी है और यथार्थ भी। राधा और कृष्ण प्रेम संबंधों के प्रतीक युगल हैं और इन प्रतीकों का प्रयोग शताब्दियों तक संपूर्ण भारतीय साहित्य में होता रहा है। इस प्रकार मध्ययुग से शुरू होने वाली यह प्रेम कथा 20वीं शताब्दी के आधुनिक कवि धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' तक की यात्रा करती है। इसमें संदेह नहीं कि इतिहास और भूगोल की खाइयों को पाटकर कृष्णकाव्य ने भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट पहचान दी है। कृष्णकाव्य संस्कृति की भावात्मकता और सर्जनात्मकता को एक साथ वहन करने वाला काव्य है।

7) आत्माभिव्यक्ति

कृष्णकाव्य का आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत पुराण रहा है लेकिन कवियों ने इस कथा का काव्यात्मक रूपांतरण भर नहीं किया बल्कि इसमें अपनी अनुभूतियों की प्रगाढ़ता को भी शामिल किया है। कृष्ण काव्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा भागवत की कथा से युक्त है और उसमें रचनाकार ने अपने प्रेम की पीड़ा को व्यंजित किया है। जयदेव से शुरू होने वाली कृष्णकाव्य परंपरा आधुनिक काल के भारतेन्दु युग तक अविच्छिन्न रूप में मिलती है और इस दीर्घ परंपरा में सर्वत्र रचनाकारों ने कथा की तुलना में अपनी ही अनुभूति को वरीयता दी है। हिन्दी कृष्णकाव्य परंपरा के आदि कवि विद्यापति के किशोर और किशोरी के दुर्निवार मिलन प्रसंगों एवं राधा की वयः संधि के सौन्दर्य का प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। सूर ने कृष्ण के शिशु एवं किशोर रूप के माध्यम से वात्सल्य और प्रेम के प्रसंगों को अन्यतम ऊंचाई प्रदान की और हिन्दी कविता को गौरव के शिखर पर पहुंचाया है। राधा और कृष्ण अपनी प्रकृति में ही गीतात्मक पात्र है। इसलिए प्रत्येक कवि कथा के स्तर पर राधा और कृष्ण संज्ञाओं का सहारा तो लेते हैं लेकिन वह इसमें अपनी ही अनुभूतियों की, पीड़ाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसलिए कृष्णकाव्य की शैली प्रायः गीतात्मक हो गई है।

8) पुष्टिमार्गीय भक्ति की प्रधानता

कृष्ण काव्यधारा में भक्ति के अनेक सम्प्रदाय हैं। वस्तुतः कृष्ण काव्यधारा का सम्बन्ध पुष्टिमार्ग पर आधारित है। इसलिए अनुग्रह-या-कृपा तत्त्व कृष्ण भक्ति का मूल आधार है। सूरकाव्य या कृष्णकाव्य की कृपा ईश्वर की स्वीकृति की कृपा का नाम है।

सूर – जापर दीनानाथ ढ़रै
सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै।
सूर पतित तर जाय तनक में जो प्रभु नेक ढ़रै।

आगे चलकर प्रेम ही कविता के चिन्तन का आधार बनता है। प्रेम, प्रेम से उत्पन्न होता है।

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पइये
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ लइये।

प्रेम मूलतः सांसारिक बंधन है। परमारथ मूलतः सांसारिक संबंधों को लेकर हो सकता है। पूर्णता सबको साथ लेकर है। परमार्थ की मानवीय और लौकिक व्याख्या पुष्टिमार्ग करता है।

काव्य संगठन

निर्गुण काव्य के काव्य संगठन में रचनाशीलता की उदासीनता दिखाई पड़ती है। अलंकारों एवं छन्दों के प्रति कोई सजगता नहीं दिखाई पड़ती है। राम काव्य का काव्य संगठन अधिक सजग है। तुलसी की तुलना में कृष्ण काव्य में कवितापन की कमी है, लेकिन संगीत की प्रबलता एवं रंजन करने की अपार क्षमता के कारण यह मध्यकालीन रचना प्रतिभा की बड़ी उपलब्धि है। कल्पनाशीलता के स्तर पर मानवीय अनुभव को प्राथमिकता दी गई है।

इस कविता की बनावट पर लौकिक अनुभव या संबंधों का गहरा दबाव है। उस समय प्रचलित अनेक काव्य विधाओं का प्रयोग सूर ने किया। मूलतः पुत्र जन्म या पारिवारिक कार्यों पर इसका प्रभाव पड़ा है। रचना के स्तर पर औसत रूप से **पदों** का इस्तेमाल किया है जिसमें गायन की अनेक शैलियां हैं। सूर ने संपूर्ण काव्य की रचना पदों में की है। सभी कृष्ण कवियों ने प्रबन्ध के स्थान पर मुक्तक को प्रधानता दी है। इस प्रधानता का कारण नायक है। राम का पूरा जीवन प्रबन्धात्मक है। कृष्ण कवियों ने कृष्ण के कुछ पक्षों का चुनाव किया है। उसमें एक प्रसंग वात्सल्य और दूसरा श्रृंगार का है। कृष्ण काव्य के कवियों ने केवल कृष्ण के कैशौर्य का वर्णन किया है।

विषय के दबाव के कारण कृष्ण काव्य धारा प्रबन्धात्मक नहीं बन पाई है वह मुक्तक है। लेकिन सूरसागर के मुक्तक में भी एक क्रमिकता है। सीमित होने के बावजूद उसकी क्रमिकता का ध्यान रखा गया है। इसलिए सूर सागर को प्रबन्ध मुक्तक कहा गया है। सामान्यतः कृष्णकाव्य की प्रकृति प्रबन्धात्मक नहीं है। वस्तुतः कोई भी काव्य जो भावना पर आधारित होता है मुक्तक होता है। जो काव्य सम्बन्धों के स्तर पर आधारित होता है, उसे प्रबन्धात्मक कहते हैं।

सूर को अलंकार वर्णन में महारत हासिल है। सूर जब अलंकार वर्णन में आते हैं तब अलंकार हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। सूर में जितनी सहृदयता है उतनी ही वाग्विदग्धता भी। रीतिकाल के कवियों में भावना और अनुभव की गहराई कम है। अपनी वाग्विदग्धता के आधार पर ही सूर की गोपियां उद्धव के ज्ञान का खंडन करती हैं। सामान्यतः सरलता और वाग्विदग्धता एक साथ नहीं होती। लेकिन कृष्ण काव्य में इसकी विशेषता है।

मूल्यांकन

समग्रतः कृष्ण काव्यधारा ब्रह्म की रंजन शक्ति को आधार मानकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुई है। मध्यकालीन इतिहास में इस काव्यधारा ने भारतीय समाज के चित्र को संगीत और प्रेम के

संदर्भों तक जोड़कर जीने की चाह की रक्षा की है। गार्हस्थिक प्रसंगों और स्वच्छंद प्रेम की समांतर व्यवस्था के द्वारा कविता में धरती और आकाश की समांतर सम्बन्ध व्यवस्था को इन कवियों ने स्थापित किया। वस्तुतः इन कवियों की सबसे बड़ी उपलब्धि प्रेम को मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ ज्ञान की तुलना में लौकिक जीवन के अनुभवों को महत्त्वपूर्ण बनाने की है। इस अर्थ में कृष्ण काव्यधारा सही अर्थ में कविता के केन्द्र में मानवीय सम्बन्धों की दुनिया को प्रतिष्ठित करती है। हिन्दी कविता के 1000 वर्षों के इतिहास में कृष्ण काव्य का यह योगदान विशिष्ट है।

—000—

रामभक्ति काव्य की विशेषताएं

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। सातवीं आठवीं शतब्दी से दक्षिण भारत में जो भक्ति–लहर चली थी वह धीरे–धीरे उत्तर भारत में पहुंचकर एक व्यापक आंदोलन का रूप ले चुकी थी। भक्ति की चेतना के कारण बड़े स्तर पर निर्गुण और सगुण भक्तिकाल की रचना हुई। सगुण भक्ति धारा के कवियों ने राम और कृष्ण को अपना काव्यपुरुष बनाया। राम को आधार बनाकर भक्ति की पवित्र मंदाकिनी प्रवाहित करने वाली काव्यधारा को रामभक्ति काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। अपनी जातीय चेतना को आत्मसात् करते हुए विदेशी आक्रान्ताओं के आतंक, हिन्दू जाति के टूटन तथा समाज के बिखरते हुए सूत्रों की प्रतिक्रिया में उठ खड़े हुए काव्यधारा की विशेषताएं निम्नांकित हैं –

रामभक्ति काव्य राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना करता है। वहां राम शील, सौंदर्य और मर्यादा के अधिष्ठाता हैं। राम की मर्यादा उनके मानवीय आचरण, दायित्व–निर्वाह एवं जीवन के ठोस प्रसंगों में क्रियाशील संघर्ष से निर्मित हुई है। यह मर्यादा पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कई स्तरों पर दिखाई देती है। मानवीय बोध एवं पीड़ा इस मर्यादा को समाज के लिए अथवा मनुष्य मात्र के लिए मूल्यवान बनाती है।

रामभक्ति काव्य लोकमंगल की साधना को अपना निमित्त बनाती है। अतः रामभक्ति और कविता का आधार यहां लौकिकता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है –

'कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

लोकमंगल की साधना के हेतु ही रामभक्ति काव्यधारा के कवियों ने कर्म–संघर्ष का चित्रण किया है। पर, अविरल संघर्ष–परम्परा में भी विवेक, लोकमंगल और मर्यादा बनाये रखना राम का आदर्श है। यह संघर्षमयता और मर्यादा रामकाव्य की विशिष्टता है।

समन्वयात्मक जीवन–दृष्टि राम–भक्ति काव्य की विशेषता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' में लिखा है – 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।' रामभक्ति–काव्य के पर्याय तुलसीदास का सारा

काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है। गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और ज्ञान का, भाषा संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का समन्वय 'रामचरितमानस' के आदि से अन्त तक दो छोरों पर जाने वाली परा कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। निर्गुण और सगुण का समन्वय करते हुए तुलसी कहते हैं –

'अगुनहि सगुनहिं नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव–संशय खेदा।'

यह समन्वय भाव के स्तर पर ही नहीं, बल्कि शैली के स्तर पर भी दिखाई देता है। अपने समय में प्रचलित वीरगाथाकाल की छप्पय–पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति–पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त–सवैया पद्धति, नीति काव्यों की सूक्ति–पद्धति, प्रेमाख्यानों की दोहा–चौपाई की प्रबंध–पद्धति आदि सभी काव्य–शैलियों का प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है।

रामभक्ति काव्यधारा दास्य–भक्ति–भावना को अपनाते हुए अन्तस्साधनात्मक भक्ति का निषेध करती है। भक्ति तुलसी के जीवन की सार्थकता है –

'देहु भगति रघुपति अति पावनि,
त्रिविध ताप भय दाप नसावनि।'

दास्य–भावना को चेतना के स्तर पर स्वीकार करने वाली यह भक्ति सम्पूर्ण आत्मार्पण पर आधारित है –

'जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।'

रामभक्ति काव्य में ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा मिलती है। वह मूर्त–अमूर्त, व्यक्त–अव्यक्त, चल–अचल सब कुछ है यानी सर्वरूप है। उसके दोनों रूप सत्य और नित्य हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा है –

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगति प्रेम बस सगुन सो होई।।

'गहन राजनीतिक बोध' राम भक्ति काव्य की विशिष्टता है। शासन की प्रजातांत्रिक भूमि की मांग करते हुए तुलसी दिखायी देते हैं। रामचरितमानस में राम कहते हैं –

'सोई सेवक प्रियतम मम सोई, मम अनुशासन मानै जोई।
जौं अनीति कछु भाखौं भाई, तौ मोहि बरजहुं भय बिसराई।'

समकालीन राजनीति की प्रकृति इस काव्य में साफ दिखाई देती है जिसके कारण समाज में अनेक विसंगतियां उत्पन्न हुई हैं -

वेद धर्म दूरि गये भूमि चोर भूप भये।

इन कुरूपताओं के समानान्तर रामभक्ति काव्यधारा का कवि रामराज्य की परिकल्पना करते हैं। रामराज्य तुलसी द्वारा कल्पित एक ऐसा स्वप्न-लोक है जो सम्पूर्णतः सुखद है। यह कोई आध्यात्मिक या अन्तस्साधनात्मक उपलब्धि नहीं है, बल्कि संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त हो जाने की स्थिति है -

दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।

भक्तिकाल की अन्य काव्य-धाराएं जहां वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करती हैं, वहीं रामभक्ति काव्यधारा वर्णाश्रम-व्यवस्था का समर्थन करती है। तुलसी वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में देखते हैं। इसलिए वे कहते हैं -

पूजिय विप्र सकल गुनहीना
सूद्र न पूजिय परम प्रवीना।

रामभक्ति काव्य में नारी के प्रति तिरस्कार-दृष्टि है। तुलसी नारी को अवगुणों की खान कहते हैं -

विधिहुं न नारि हृदय गति जानी
सकल कपट अघ अवगुन खानी।

लेकिन तुलसी नारी को सामाजिक रिश्तों के भीतर सम्मानित करते हैं। सीता, भवानी आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वे कई स्थानों पर नारी का मर्यादित चित्रण करते हैं -

अनुज बधु भगिनी सुत नारी।

युग-जीवन का यथार्थ चित्रण रामभक्ति काव्यधारा की महत्वपूर्ण विशेषता है। धार्मिक अराजकता, शिक्षा-व्यवस्था, आर्थिक विपन्नता, दैविक आपदाएं, दरिद्रता आदि का वर्णन तुलसी के काव्य में मिलता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

धार्मिक अराजकता

'नारि मुई गृह सम्पति नासी, मूंड़ि मुड़ाइ होहिं संन्यासी।'

दरिद्रता

'खेती न किसान को भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।'

रामभक्ति काव्यधारा में प्रबंधात्मक और मुक्तक, दोनों प्रकार की रचनाएं लिखी गई हैं लेकिन तुलसी ने प्रमुखतया प्रबंधात्मक विधान का निर्वाह किया है। तुलसी का सांस्कृतिक संकट संपूर्ण जीवन का सांस्कृतिक संकट है इसलिए वे प्रबन्धात्मकता को चुनते हैं।

'समग्रतः हिन्दी रामकाव्य परंपरा हमारी जातीय रचनाशीलता और मूल्य चिन्ता का अप्रतिम दस्तावेज है। यह कविता जहां अपने समय के सामाजिक मानवीय संकटों का तकलीफदेह बयान करती है वहीं रामराज्य के स्वप्न के रूप में एक विकल्प भी प्रस्तुत करती है। रामकाव्य धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास की कतिपय सीमाएं वर्णव्यवस्था की स्वीकृति, स्त्री के प्रति सहानुभूति का अभाव और सामाजिक परिवर्तन की कोशिशों का धीमापन इस कविता की सीमाएं हैं, लेकिन ये सीमाएं, रामकाव्य की ही नहीं, इतिहास की भी सीमाएं हैं। वस्तुतः कोई भी जीवन्त काव्य अपने समय की सीमाओं से अछूता नहीं रह सकता। इसलिए रचना की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस हद तक अपने समय की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और विकल्प देती है। आधुनिक विश्व-दृष्टि में अनेक सीमाओं से युक्त होने के बावजूद रामराज्य के स्तर पर इस कविता की प्रासंगिकता निर्विवाद है।

राम काव्य परम्परा

सगुण काव्यधारा में पहली बार ब्रह्म मनुष्य के रूप में आचरण करता हुआ दिखता है। वहां ब्रह्म चिंतन का विषय नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवहार से पकड़ में आता है। अतः ब्रह्म की जागतिक भूमिका की पहचान की शुरूआत सगुण काव्यधारा में होती है। समूचे ब्रह्म चिन्तन को लौकिक आधार देने का काम सगुण काव्यधारा करता है। पूरे सगुण काव्य में चिंता, मनुष्य की चिंता है। सगुण काव्यधारा में मूलतः आध्यात्म को ब्रह्म के नजदीक पहुंचाया है। आत्मा के मुक्त होने की

विरासत फूट गयी है। राम और कृष्ण का आचरण ब्रह्म का नहीं है। सगुण काव्य ने लौकिक आधार प्रदान किया। समाज के अध्यात्मिकीकरण की शुरूआत सगुण काव्य करता है। यह सगुण काव्य की बड़ी देनों में से एक है। मध्यकाल के वैराग्यवाद के खिलाफ सही मायने में धर्म के बीच पड़े मलबे को हटाने का काम सगुण काव्य ने किया। इस काव्य में कहीं रहस्यवाद दिखाई नहीं देता है। ब्राह्मण, गाय, देवता और संत के उपकार के लिए ब्रह्म मनुष्य के रूप में अवतार लेता है। अनन्तता अर्थहीन है जिसे समझा जा सकता है, वही मनुष्य के लिए उपयोगी हो सकता है। सीमित और ठोस अनुभव देने की शुरूआत सगुण काव्य ने की।

इसी सगुण पृष्ठभूमि पर राम और कृष्ण काव्य धारा का प्रादुर्भाव हुआ। राम काव्यधारा के दर्शन का आधार रामानुजाचार्य के अद्वैतवाद पर आधारित है। इन्द्रियों से दीखने वाला प्रत्येक चीज झूठ है, इस तरह मनुष्य रूप में दीखने वाला ईश्वर भी झूठ है। जगत में रहते हुए अपने मूल स्वरूप को जो बनाये रखता है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म की मूल प्रकृति करूणा की है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर मूलतः करूणामयी है और गरीबों के कष्टों को दूर करने के लिए ईश्वर का अवतार होता है। विशिष्टाद्वैत में अवतार धर्म की रक्षा के लिए नहीं है। राम काव्यधारा का दार्शनिक आधार विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत से इसने तीन चीजें लीं– 1. अवतारवाद, 2. करूणा और विशिष्टता। मानवीय आचरण करता हुआ मनुष्य नहीं रहता विशिष्ट हो जाता है। अवतारवाद, करूणा और लीलावाद सगुण काव्य के बुनियादी आधार हैं। इन बिन्दुओं पर रामकाव्य की विशेषता पर बात करेंगे।

राम काव्य की विशेषता

1) राम के मर्यादा पुरूषोत्तम रूप की स्थापना

रामभक्ति काव्य राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की स्थापना करता है। राम की मर्यादा उनके मानवीय आचरण के भीतर से पैदा हुई है। मर्यादा का आधार विचार नहीं आचरण है। मर्यादा का मूल अर्थ नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने मूल्य और मर्यादा से जुड़ा रहना है। समुद्र से रास्ता मांगने से लेकर शत्रु के साथ सम्बन्ध में भी उन्होंने मर्यादा का पालन किया है। उनके आचरण में कहीं अनादर की भावना नहीं है। पारिवारिक स्तर पर भी उन्होंने मर्यादा का पालन दृढ़ता से किया है। पारिवारिक सामाजिक और राजनीतिक तीनों स्तरों पर राम मर्यादा का पालन करते हैं। राम के संबंध में द्विवेदी जी का वक्तव्य है –

"यह राम हमारे दैनिक जीवन के अनुभवों से उजागर हुआ है। वह केवल अनादि अनंत और व्यापक सच्चिदानन्द मात्र नहीं है, बल्कि शील, सौन्दर्य और मर्यादा का अधिष्ठाता है।"

मर्यादा राम की विशिष्टता है। पुरूषोत्तम का मूल अर्थ है श्रेष्ठ मनुष्य यानि मर्यादा मनुष्य होने की पहचान और शर्त दोनों है। संघर्षहीनता के बिना मर्यादा का कोई अस्तित्व नहीं है। दैव के खिलाफ संघर्ष – संपूर्ण राम काव्य में दैव से संघर्ष दिखाई पड़ता है। जहां वास्तविक संघर्ष है वहीं मर्यादा उत्पन्न हो सकती है। विपत्तियों से जूझना उन पर विजय प्राप्त करना यह मर्यादा का लक्षण है मर्यादा की निशानी है।

"दैव सम्पादितो दोषो, मानुषेण मयाजितः।"

दैव ने मेरे लिए विपत्तियां उत्पन्न की और मैंने मनुष्य होकर उस पर विजय प्राप्त की। तुलसीदास के यहां भी दैव है। तुलसीदास के राम भी दैव से हमेशा टकराते हैं। निराला भी आधुनिक काल में दैव का प्रयोग करते हैं। दैव से, जड़ता से लड़ने की भावना मर्यादा में दिखती है। उस युग के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि रामराज्य की कल्पना करते हैं। यह मर्यादा मनुष्य के लिए नहीं बल्कि उसकी पूरी संरचना के लिए जरूरी है। मर्यादा एक मूल्य है रामकाव्य में। मर्यादा मानवीय सामाजिकता की रीढ़ है। मर्यादा के बिना समाज, समाज नहीं रह सकता। इस तरह से रामकाव्य में एक ऐसे स्तर पर जब मर्यादा खत्म हो गयी है कविता अपनी बात विचार के रूप में नहीं रखती चरित्र के रूप में रखती है।

2) लोक मंगल की साधना/कर्म संघर्ष का चित्रण

लोक का कल्याण हो सके इसके लिए संघर्ष जरूरी है। अगर हम चाहते हैं कि धरती विषाक्त मुक्त हो तो इसके लिए संघर्ष जरूरी है, यह केवल आशीर्वाद से संभव नहीं है जो लोक मंगल है वह अनिवार्यतः संघर्ष से जुड़ा है। पूरे तुलसी के काव्य में लोक मंगल की कामना संघर्ष से जुड़ी है। राम काव्य की मूल प्रतिज्ञा रामराज कल्याण की है। पूरा राम काव्य मानवीय सदाशयता, लोक मंगल से प्रेरित है। लोकमंगल की चिंता रामकाव्य की असली चिन्ता है।

यद्यपि तुलसीदास स्वांतः सुखाय की बात करते हैं। तुलसी का स्वांतः सुखाय समष्टि का सुख है। वे फ्रायड के व्यक्ति नहीं हैं, सामाजिक व्यक्ति हैं। लोकमंगल का लक्ष्य प्रतिगामी शक्तियों का विरोध भी है। यह राम के संघर्ष से होता है। यह विरोध अनिवार्यतः सजग और सक्रिय है। संघर्ष, मर्यादा और धर्म – एक स्तर पर यह तीनों लोक मंगल के ही तीन रूप हैं। अंततः यह

कविता, कविता और कविता के लक्ष्य को भी बड़ा बनाती है। शुक्ल जी के अनुसार – "बड़ी कविता वही है, जिसमें लोक मंगल की चिन्ता दिखाई पड़ती है।" राम के जन्म का कारण कृष्ण की तरह लीला नहीं – सामाजिक भी है।

विप्र, धेनु, सुर, संतहित, लिन्ह मनुज अवतार।
परहित सरिस धर्म नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।

यश, कविता और संपत्ति वही अच्छी होती है, वैसे ही जैसे गंगा सबका कल्याण करती है। इसलिए हम कह सकते हैं कृष्ण काव्य की मूल प्रकृति लोक रंजन की है। लोकरंजकता कृष्ण काव्य की मूल प्रतिज्ञा है। दूसरी तरफ हम कह सकते हैं कि लोक मंगल की कामना संघर्ष की निरंतरता और मर्यादा के निर्वाह में रामकाव्य की लोक मंगल की चेतना प्रस्तावित होती है।

3) समन्वयात्मक जीवन दृष्टि

परस्पर विरोधी धाराओं को एक बिन्दु पर ले आना समन्वय की पहचान है। भारतीय संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मक है। समन्वय भारतीय समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। तुलसीदास और महात्मा गांधी दोनों इस क्षेत्र के महानायक हैं। श्याम सुन्दर दास ने कहा है– "तुलसी का काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है।" जार्ज ग्रियर्सन, द्विवेदी जी और आचार्य शुक्ल इसलिए तुलसी को महानायक मानते हैं।

द्विवेदी जी का कथन है – "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधी संस्कृतियां, साधनाएं, जातियां, आचार–विचार और पद्धतियां प्रचलित हैं। तुलसीदास का सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। रामचरितमानस आदि से अन्त तक दो छोरों पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयास है।"

स्पष्ट है समन्वयशीलता संस्कृति की पीठिका है। समन्वय का सम्मान करने वाले में बुद्ध, गांधी और तुलसी आते हैं। समाज के टूटने के स्तर पर तुलसी उसे जोड़ने का प्रयास करते हैं। वर्ण व्यवस्था को तुलसी संशोधन के साथ स्वीकार करते हैं।

समन्वय के प्रयास

क) निर्गुण और सगुण के स्तर पर समन्वय

तुलसी के यहां सगुण और निर्गुण में कोई फर्क नहीं है। दोनों संसार के दुःख को हरने वाला है। जो चिन्तन के स्तर पर सगुण है, वही सगुण रूप हो जाता है।

अगुन अरूप अलख अज जोई
भगति प्रेम बस सगुन सो सोई।

जो निर्गुण है, प्रेम और भक्ति के वश में वही सगुण हो जाता है। इसलिए सगुण और निर्गुण के बीच फैले दरार को तुलसी ने पाटने का काम किया है। उन लोगों की भर्त्सना की जो लोग केवल निर्गुण के पक्ष में हैं।

ख) वैष्णव और शैव के स्तर पर समन्वय

शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहूँ मोहे न भावा

"हरिहर निन्दा सुनई जो काना
होई पाप गउ घात समाना।"

ग) शास्त्र और लोक का समन्वय

तुलसी ने अपने काव्य में शास्त्र और लोक का समन्वय किया है। एक तरफ ब्रह्म–तत्त्व का वर्णन करते हैं तो दूसरी तरफ लोक का वर्णन करते हैं। तुलसी की भाषा में लोक और शास्त्र की झलक दिखाई पड़ती है।

4) दास्य भक्ति की स्वीकृति

पूरे रामकाव्य की भक्ति दास्य भक्ति है। जो मन, तन और धन से अपने मालिक के प्रति समर्पित है उसे दास्य कहते हैं। दास्यता चेतना की वह अवस्था है जिसमें हम अपने पूरे अहंकार को समाप्त कर देते हैं। इसलिए दास्य–भक्ति में अहंकार का पूरा अभाव है। भक्ति की सघनता में सम्पूर्ण समर्पण की भावना दिखाई देती है। रामकाव्य दास्य भक्ति को प्रधानता देता है। मूलतः दास्य भक्ति में दास और मालिक का सम्बन्ध पारदर्शक होता है। सम्बन्धों की पारदर्शिता दास्य भक्ति की पहचान है। इसलिए दास्य भक्ति सीधी सरल और सहज है। तुलसी के राम कण–कण

में व्याप्त हैं। वे रामी के लिए उसी तरह सुलभ है जैसे हवा। जैसे ही हम अहंकार को छोड़ देते हैं वैसे ही विराटत्व दिखाई देता है। राम की प्रकृति की व्याख्या विराटत्व के स्तर पर किया गया है।

"को जाने को जैहे सुरपुर कौन नरक धन धाम को।
तुलसी बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को।"

मूलतः यह दास्य भक्ति भीतर से संपृक्त करती है। दास्य भक्ति रामकाव्य का मूल्य है --

"देहु भगति रघुपति अति पावनि
त्रिविध ताप भय दोष नसावनि।"

तुलसी कहते हैं – हे राम! अगर देना हो तो वह भक्ति दो जो जगत के सभी कष्टों को दूर कर सके। रामचरितमानस के समापन दोहा में तुलसीदास कहते हैं – हे राम! जिस तरह कामी पुरूष स्त्री को और लोभी धन को चाहता है, उसी तरह मैं अन्त तक आपसे प्रेम करता रहूं – यह वरदान मुझे चाहिए।

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिय ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

रामभक्ति काव्य में ब्रह्म की उभयात्मक अवधारणा मिलती है। वह मूर्त–अमूर्त, व्यक्त–अव्यक्त, चल–अचल सब कुछ है यानि सर्वरूप है। उसके दोनों रूप सत्य और नित्य हैं। रामचरित–मानस में तुलसीदास ने लिखा है –

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन, अरूप अलख अज जोई, भगति प्रेम बस सगुन सो होई।।

5) गहन राजनीतिक बोध

समूचे मध्यकाल में भक्ति काव्य के भीतर राजनीतिक अभिप्रायों की चर्चा तुलसी में दिखाई पड़ती है। यानि धर्म की चर्चा राजनीति के रूप में नहीं की जा सकती। मार्क्स के अनुसार मनुष्य राजनीतिक प्राणी है। तुलसीदास भक्त कवि होते हुए भी पूरे मध्यकाल में पहले कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्य में राजनीति को एजेण्डे के रूप में रखा है। राजनीति धर्म विहीन हो गई है। राजनीति जब धर्मविहीन होती है तब वह मनुष्य विरोधी हो जाती है।

"वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।"

इन कुरूपताओं के समांतर रामभक्ति काव्यधारा के कवि रामराज्य की परिकल्पना करते हैं। रामराज्य तुलसी द्वारा कल्पित एक ऐसा स्वप्न लोक है, जो संपूर्णतः सुखद है। यह कोई आध्यात्मिक या अन्तस्साधनात्मक उपलब्धि नहीं है बल्कि संसार के दैहिक दैविक और भौतिक तापों से मुक्त हो जाने की स्थिति है --

"दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।"

रामचरितमानस में 'शासन की प्रजातांत्रिक चेतना' की अवधारणा है जबकि 'प्रजातंत्र' की अवधारणा पैदा ही नहीं हुई थी।

"जासु राज नृप प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नर्क अधिकारी।"

नृप पाप परायन धर्म नहीं
कटि दंड बिडंब प्रजा नितहीं।

मूलतः जब सत्ता भय पैदा करने लगती है तब उस पर निगाह रखनी चाहिए। भय और आतंकित सत्ताओं की उम्र लम्बी नहीं होती है। गांधी जो कि अंग्रेजी पढ़े–लिखे थे बैरीस्टर थे, मार्क्सवाद की बात नहीं करते रामराज्य की बात करते हैं। रामराज्य मनुष्य के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को दूर करती है। रामराज्य की मूल चिंता मार्क्स से चार सौ साल पहले अर्थ की समानता की बात करती है।

659400-IAS/PCS-92

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोई अबुध न लक्षणहीना।

दरिद्रता की भयावहता का अंदाज तुलसी को था। करीब 20–25 चौपाइयों में पर्यावरण की चिन्ता भी है।

'फूलन फरहिं सदा तरू कानन, रहहिं एक संग गज पंचानन।'

अतः रामराज्य की अवधारणा समानता और प्रेम को आधार रूप में प्रतिष्ठित करती है। मार्क्सवाद भी समानता की बात करता है लेकिन वहां प्रेम नहीं है, खून है, क्रांति है। इसलिए गांधी ने मार्क्सवाद के स्थान पर रामराज्य की कल्पना की है।

कविता मूलतः अपने समय का दस्तावेज नहीं होती। तुलसी की कविता मूलतः सत्य का निचोड़ है। कविता के समूचे धागे का इस्तेमाल तुलसी ने किया है। शासन की प्रजातांत्रिक भूमि की मांग करते हुए तुलसी दिखाई देते हैं। रामचरित में राम कहते हैं –

'सोई सेवक प्रियतम मम सोई, मम अनुशासन मानै जोई।
जौ अनीति कछु भाखौं भाई, तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।'

राज्य या राजा आतंक नही है। वह मूलतः प्रजा का सेवक है। राम राज्य मे राजा और प्रजा के बीच भय नहीं है। राम अपने राज्य में प्रजा से कहते हैं – जैसे ही मुझसे अनीति हो तुम हाथ पकड़ कर मुझे कह सकते हैं।

6) वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन:

भक्तिकाल की अन्य काव्यधाराएं जहां वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करती हैं वहीं राम भक्ति काव्यधारा वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करती है। नारी और शुद्र की सामाजिक हैसियत एक तरह की है। तुलसी वर्णव्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में देखते हैं। इसलिए वे कहते हैं –

पूजिय विप्र सकल गुनहीना
सूद्र न पूजिय परम प्रवीना।

7) नारी के प्रति तिरस्कार दृष्टि:

नारी को मध्यकाल में 'माया' माना गया है जो आध्यात्मिकता में अवरोध बनकर पुरुष को/साधक को रोकती है। आलोचक मानते हैं कि कबीर कहीं न कहीं सामंतवाद विरोधी दृष्टि के कवि हैं, जबकि तुलसी सामंतवाद के पक्षधर हैं।

लेकिन ध्यान देने की बात है कि तुलसी की कविता में नारी विरोधी उक्तियां हमेशा खलनायकों के मुंह से कही गई हैं। प्रश्न उठता है कि क्या उन्हें तुलसी की दृष्टि माना जाए? पूरे रामचरितमानस में राम ने स्त्रियों के प्रति अनौचित्य पूर्ण कोई वक्तव्य नहीं दिया – या तो रावण ने कहा या समुद्र ने या कुछ स्त्रियों ने ही। तथापि यह मानना होगा कि कहीं न कहीं तुलसी की सम्मति भी रही होगी –

1. "बिधिहूँ न नारी हृदयगति जानि, सकल कपट अघ अवगुण खानि।"
2. "नारी स्वभाव सत्य कवि कहहिं अवगुण आठ सदा उर रहहिं।"

(रावण का कथन)

3. "ढोल, गंवार, शुद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।"

(भयभीत समुद्र का कथन)

वस्तुतः तुलसी का नारी के प्रति दृष्टिकोण मर्यादित है। वे जब नारी का चित्रण करते हैं तब यह देखा जा सकता है। सीता के शरीर के बारे में एक बार उन्होनें लिखा है–

"सोह नवल तनु सुंदर सारि, जगत जननि अतुलित छवि भारी"

वे स्त्री की पराधीनता का सवाल उठाने वाले पहले कवि हैं –

"कत विधि सृजी नारी जग माहिं, पराधिन सपनेहुं सुख नाहिं"

8) युग जीवन के यथार्थ का चित्रण :

सामान्यतः सभी रामकाव्य की प्रकृति में उस युग की प्रवृत्ति है। रामकथा इस तरह की है कि उसमें समाज की समस्याएं दिखती हैं। कविता अपने समय के यथार्थ का संकेतन होता है। अखबार और कविता की खबर में अन्तर है। अखबार की खबर तटस्थ होती है जबकि कविता जो समय की खबर देती है, उसमें उस युग की तमाम प्रवृत्ति लक्षित रहती है। जैसे कबीर की कविता में उस युग की तमाम प्रवृत्ति जैसे वर्णव्यवस्था, धार्मिक कर्मकाण्ड, पांखण्ड आदि की सूचना पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। वैज्ञानिक सभ्यता की मूल समस्या को प्रसाद अपनी कविता में दिखाते हैं। कविता एक अनिवार्य युग धर्म है कि वह चेतना को सजग बनाती है। तुलसी के काव्य में उस समय का समूचा यथार्थ चित्रित हुआ है –

1) धर्म : तुलसी का समय धार्मिक अराजकता का काल है। धार्मिक अराजकता का अभिप्राय धर्म के केन्द्र का टूटना है। इसलिए एक स्वेच्छाचारिता उत्पन्न हो गई है। किसी भी स्तर पर केन्द्र के टूटने पर परिस्थितियां अवसर के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

<u>सुविधा के रूप में–</u>

नारि मुई गृह सम्पत्ति नासी
मूड़ मूड़ाई होहि संन्यासी ।

– घर में कुछ भी नहीं रहने पर संन्यासी होना

जाके नख अरू जटा विसाला
सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला।

धर्म अब सिर्फ वेशभूषा हो गया है जबकि धर्म वेशभूषा नहीं है। धर्म की मूल चेतना खत्म होने पर मंदिरों में संगमरमर की चकचकाहट दिखाई पड़ेगी। धर्म की सत्ता प्रदर्शन पर आ गई है। मरते धर्म की पूर्ति मर्यादा के माध्यम से तुलसी कराते हैं –

अनुज वधु भगिनि सुत नारि
इन्हीं कुदृष्टि बिलोकइं जोई, तासु कटे कछु पाप न होई।।

राम यह जानते हुए कि यह गलत है तब भी व्यक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बाली बध करते हैं।

2) सिद्धनाथ परम्परा का विरोध : दर्शन और आवरण के अन्तर्विरोध को लेकर –

"ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर कहहिंन दूसर बात
कौड़ी लागि मोह बस, करहिं विप्र गुरू घात।"

3) शिक्षा : शिक्षा का अर्थ अपने सामर्थ्य, ईश्वर और विराटत्व का जानना है। लेकिन तुलसी कहते हैं कि शिक्षा बिल्कुल व्यवसायी हो गयी है। शिक्षक और विद्यार्थी का रिश्ता आदान प्रदान का रिश्ता है जो बिल्कुल नष्ट हो गया है–

हरई सिष्य धन सोक न हरई
सो गुरू घोर नरक मंह परई

परिवार को पहला विद्यालय कहा गया है लेकिन परिवार के स्तर पर संस्कार खत्म है–

मातु पिता बालकन्हि बोलावहि
उदर भरई सोइ धर्म सिखावहि

IAS/PCS

परिवार में मूल्य का संस्कार नहीं है। इसलिए न तो गुरू के स्तर पर और न परिवार के स्तर पर शिक्षा का कोई महत्त्व है। इसलिए शिक्षा मूलतः पेट भरने तक रह गई है। मध्यकाल की शिक्षा उलट गई है। तुलसी पहले कवि हैं जिन्होंने शिक्षा की बात उठायी है। इसका अर्थ है तुलसी ने आर्थिक दंश को झेला है। तुलसी का सारा जीवन भीख मांगते गुजरा है। बच्चे काम पर जा रहे हैं, यह समय की सबसे खतरनाक बात है। तुलसी की पूरे कविता के केन्द्र में भूख दिखाई देती है–

कलि बारहि बार दुकाल परै बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं न अभिमान विरोध अकारण ही
खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस

कहै एक एकन सों कहां जाइ का करी।

इस तरह यह कविता भक्ति में, सत्य में कोई वास्तविकता का निरोध नहीं करती। जीवन की समस्त परिस्थितियों के साथ भक्त हुआ जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूरा रामकाव्य राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दस्तावेज है।

9) काव्य संगठन

1) काव्यरूप : काव्य रूप के स्तर पर रामकाव्य की प्रकृति प्रबन्धात्मक है। बाल्मीकि रामायण स्वयंभु का रामचरिउ और रामचरितमानस ये सभी कृतियां प्रबन्धात्मक है। वस्तुतः राम कथा सामाजिक प्रबन्धों और चिन्ताओं से जुड़ी है। इसलिए कहा जा सकता है कि मूल्य चिंता और सामाजिक पुनर्गठन की आकांक्षा इन दोनों स्थितियों ने रामकाव्य को प्रबन्धात्मक बनाया है। इसलिए प्रबन्धात्मकता रामकाव्य की प्रकृति है।

2) भाषा : पूरा का पूरा भक्ति काव्य काव्यभाषा के स्तर पर लोक भाषाओं की प्रतिष्ठा करता है। लेकिन रामकाव्य में भाषा के स्तर पर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है।

तुलसी ने – भासा बद्ध करबं मैं सोई।

मूलतः जनजीवन की भाषा जो संस्कृत से भिन्न थी उसे भाखा कहा जाता था। भाषा के स्तर पर हिन्दवी और भाखा एक ही है। कबीर के यहां संस्कृत का प्रयोग नहीं किया गया है। देव भाषा और लोक भाषा के बीच तनाव का नहीं साहचर्य का रूप दिखाई देता है।

अलंकार के स्तर पर

सामान्यतः सभी भक्ति कविता शब्दालंकार को महत्त्व नहीं देती। अलंकारों में खासतौर पर अर्थालंकारों का प्रयोग किया गया है। इसकी मूल चिन्ता अर्थ अभिव्यंजना की चिन्ता है। इसलिए सामान्यतः अर्थालंकारों का प्रयोग किया गया है। तुलसी रूपक के सबसे बड़े रचनाकार माने गये हैं। पूरे रामकाव्य में रचनात्मकता के स्तर पर संगठित हैं। कविता और भक्ति का अपूर्व संतुलन दिखाई पड़ता है।

"उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग
विकसे संत सरोज ..... ।"

मूल्यांकन

समग्रतः हिन्दी रामकाव्य परंपरा हमारी जातिय रचनाशीलता और मूल्य चिन्ता का अप्रतिम दस्तावेज है। यह कविता जहां अपने समय के सामाजिक और मानवीय संकटों का तकलीफदेह बयान करती है वहीं रामराज्य के स्वप्न के रूप में एक विकल्प प्रस्तुत करती है। रामकाव्य में प्रतिनिधि कवि तुलसीदास की कतिपय सीमाएं वर्णव्यवस्था की स्वीकृति, स्त्री के प्रति असहानुभूति का भाव और सामाजिक परिवर्तन की कोशिशों का धीमापन इस कविता की सीमायें है, लेकिन ये सीमायें रामकाव्य की ही नहीं इतिहास की भी सीमाएं हैं। वस्तुतः कोई भी जीवन्त काव्य अपने समय की सीमाओं से अछूता नहीं रह सकता। इसलिए रचना की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस हद तक अपने समय की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और विकल्प देती है। आधुनिक विश्व दृष्टि में अनेक सीमाओं से युक्त होने के बावजूद रामराज्य के स्तर पर इस कविता की प्रासंगिकता निर्विवाद है।

रामकाव्य और कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

दोनों ही धाराएं शंकर के अद्वैतवाद की प्रक्रिया में पनपी दार्शनिक चेतना पर आधारित हैं। इनका संबंध क्रमशः रामानुज के विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत की स्थापनाओं से है। इसलिए ये दोनों ही काव्यधाराएं रचना के स्तर पर उस दार्शनिक मान्यता को प्रतिफलित करती हैं जिसमें ब्रह्म के सगुण रूप की स्थापना की गई है। सिद्धांत रूप में ब्रह्म के निर्गुणत्व को स्वीकार करते हुए भी रामानुज और वल्लभाचार्य ने जागतिक संबंधों में ब्रह्म के सगुण रूप को महत्वपूर्ण माना। सूर और तुलसी का काव्य इसी सगुण ब्रह्म की लीलाओं पर आधारित है। जगत को सत्य मानकर इसमें ब्रह्म की मानवीय भूमिका को स्वीकृति प्रदान की गई है। इस स्तर पर दोनों काव्यधाराएं ब्रह्म के सगुण रूप और उसकी मानवीय भूमिका को स्वीकार करती हैं।

दोनों ही धाराओं में अवतारवादी धारणा की स्वीकृति है। गीता में श्रीकृष्ण ने मोहग्रस्त अर्जुन से कहा था कि पृथ्वी पर जब जब धर्म की हानि होती है और दुष्टों का उत्पात बढ़ता है, मैं अवतार लेकर धर्म की रक्षा करता हूं और दृष्टों का संहार करता हूं। राम और कृष्ण काव्यधाराएं ब्रह्म की इस अवतारी भूमिका की भूमि पर एक साथ खड़ी दिखायी देती हैं।

दोनों ही धाराएं भक्ति को साधना के चरम मूल्य के रूप में देखती हैं। निर्गुण धारा में साधना का पूर्ण लक्ष्य बूंद का सागर में विलयित हो जाना है, लेकिन राम और कृष्णकाव्य में भक्त

और भगवान के विलयन की नहीं बल्कि उसके सामीप्य की कामना की गई है। सामीप्य में ईश्वरीय अनुभूति के आनन्द का पूरा अवकाश है जबकि विलयन में अस्तित्व की सत्ता का ही लोप हो जाना है। इसलिए इन धाराओं के प्रतिनिधि कवियों सूर और तुलसी ने अपने ईश्वर से अनन्त जन्मों में भक्ति की याचना की है, मुक्ति की नहीं।

निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान और प्रेम का आश्रय लेने के बावजूद भारत के सांस्कृतिक मन का पुनर्गठन नहीं किया जा सका था। राम और कृष्ण काव्यधाराएं अपने–अपने नायकों के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक चेतना एवं मूल्य–दृष्टि को एक कथात्मक आयाम देती है। संघर्ष और सौंदर्य जीवन के आधारभूत तत्व हैं। सिर्फ संघर्ष से जीवन शुष्क और अनास्थापूर्ण हो सकता है और सिर्फ सौंदर्य जीवन को विलासी और अकर्मण्य बना सकता है। इसलिए भारतीय जीवनदृष्टि सामाजिक जीवन में इन दोनों की महत्ता को स्वीकार करती है। राम और कृष्ण क्रमशः इसी संघर्ष और सौंदर्य–भावना के प्रतीक हैं।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph:2768400 IAS/PCS 9884448606

राम और कृष्ण काव्यधाराएं ब्रह्म के स्वरूप और उसके अवतारवादी धारणा के धरातल पर समान होती हुई भी अनेक बिन्दुओं पर एक–दूसरे से भिन्न भी है। इस भिन्नता के बीज उन समान बिन्दुओं में भी हैं जो इन्हें एक–दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

राम और कृष्ण काव्यधाराओं में ब्रह्म के सगुण रूप की लीलाओं का वर्णन किया गया है लेकिन रामकाव्य में यह लीला मनुष्य के रूप में हुई है। राम परमब्रह्म हैं लेकिन वे लगातार अपने को मनुष्य के रूप में व्यक्त करते हैं। मानवीय संघर्ष, आकांक्षा, सुख–दुख सब कुछ राम के जीवन में दिखाई देता है। इस नर लीला का एक महत्वपूर्ण सामाजिक अभिप्राय है। मर्यादा के प्रतिमानों की सृष्टि और आततायी के आतंक से समाज और संतों की मुक्ति, इस नर लीला का लक्ष्य है। इस प्रकार रामकाव्य में नर लीला एक वृहत्तर मानवीय और सामाजिक लक्ष्य से जुड़ी हुई है। कृष्णकाव्य वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत पर आधारित है। उसमें कृष्णलीला नरलीला नहीं बल्कि साक्षात ब्रह्मलीला ही है। रमण की इच्छा के फलस्वरूप ब्रह्म इस गोलोक में अवतरित होता है और प्रणय, संगीत और रास के माध्यम से वह आनन्द की सृष्टि करता है और भक्तों को आनन्द प्रदान करता है। इस आनन्द में सामान्यतः अपने समय के संघर्षों एवं सामाजिक सुख–दुखों की छाया वह नहीं पड़ने देता। उन्मुक्तता और तन्मयता कृष्ण लीला की आधारभूत प्रवृत्तियां हैं। रामकाव्य में जहां लीला का एक जागतिक अभिप्राय है, कृष्णकाव्य में वह सिर्फ आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक भर है।

इसलिए लीला के बिन्दु पर समान होते हुए भी उसके लक्ष्य और प्रकृति के स्तर पर दोनों काव्यधाराएं एक–दूसरे से भिन्न हैं।

राम और कृष्ण काव्यधारा में सगुण के प्रति भक्ति को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है लेकिन भक्ति के स्वरूप में भिन्नता है। रामकाव्य की भक्ति दास्य है जो वैधी भक्ति के अन्तर्गत आती है। इस भक्ति में राम श्रद्धा, मर्यादा और चरम पवित्रता के गुणों से युक्त हैं। दिव्य गुणों से युक्त राम के इस स्वरूप के प्रति भक्त अपनी तमाम क्षुद्रताओं और लघुताओं के साथ समर्पित होता है और स्वयं को दास के रूप में प्रस्तुत करता है। सेवक–सेव्य का संबंध रामभक्ति काव्य का आधार है। इसीलिए रामकाव्य में भक्त और भगवान के बीच एक पवित्र दूरी लगातार बनी रहती है। कृष्ण काव्य की भक्ति सख्य भाव पर आधारित है, जिसे आचार्यों ने मधुरा भक्ति के अन्तर्गत रखा है। इस भक्ति में भक्त और भगवान के बीच सखा–संबंध होता है। भक्त कृष्ण के अनुग्रह से उसकी लीलाओं में भाग लेता है या उन लीलाओं का साक्षी होकर आनन्द उपलब्ध करता है। संगीत, रास और प्रणय इस लीला के लौकिक उपादान हैं, इन उपादानों से वह श्रोता और भोक्ता के स्तर पर संबद्ध होकर कृष्णके प्रति दुर्निवार आकर्षण से भर कर अपूर्व आनन्द को उपलब्ध करता है। आनन्द के इस रूप की उपलब्धि में ही भक्ति के इस स्वरूप की सार्थकता है। सख्य भक्ति में भक्त और ईश्वर के बीच मर्यादा का संबंध नहीं होता और न ही उपास्य को पवित्रता की निर्जीव मूर्ति के रूप में पूजा जाता है। वहां उपास्य और उपासक राग और संगीत की समन्वित धारा में एक साथ संचरण करते हैं। इसलिए रामकाव्य की भक्ति में मर्यादा केन्द्रीय मूल्य है, जबकि उन्मुक्तता कृष्णभक्ति के सख्य–भाव की स्वाभाविक परिणति है।

राम और कृष्ण काव्य दोनों ही भारतीय इतिहास के मध्यकाल के बीच रचित हुए हैं लेकिन अपने समय और समाज से संबद्धता के बिन्दु पर इन दोनों ही काव्यों की स्थितियां भिन्न हैं। रामकाव्य में कलियुग वर्णन के माध्यम से तुलसी ने अपने समय के सामाजिक जीवन और मूल्यों के संकट को पूरी प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन से गहरी संबद्धता के कारण रामकाव्य धर्म और मानवीय जीवन को समानान्तर यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। रामकाव्य में अपने युग–यथार्थों की गहरी पहचान तो है ही, उसमें अपने युग के सपनों की भी भरपूर स्थिति है। कलियुग–वर्णन और रामराज्य की परिकल्पना यथार्थ और स्वप्न की समानान्तर उपस्थितियां हैं। कविता अपने समय का सत्य ही नहीं कहती बल्कि वह उस सत्य को मांगलिकता के बिन्दु पर प्रतिष्ठित करती है। तुलसी का रामकाव्य इस धारणा को प्रतिष्ठित करता

है। कृष्ण काव्य में अपने समय की वास्तविकताओं और संघर्षों से कोई रिश्ता दिखाई नहीं देता। यह कविता इतिहास की उपज नहीं लगती इसलिए यह प्रेम और माधुर्य के बिन्दुओं पर सार्थक होती हुई भी, ऐतिहासिकता और सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं दिखती। कृष्णकाव्य जिस संसार की रचना करता है वह एक भक्त का आध्यात्मिक संसार है और यह संसार मानवीय संसार से अछूता है। इसलिए राम और कृष्ण काव्य–धाराएं जागतिक संबद्धता के बिन्दु पर एक–दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

रामकाव्य में तुलसीदास ने राम के माध्यम से शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय किया है। कर्म सौंदर्य राम के सौंदर्य का मूल आधार है। यह कर्म सौंदर्य लोकधर्म की स्थापना से संबंधित है इसलिए रामकाव्य की संपूर्ण रचनात्मक सार्थकता लोकमर्यादा और कर्म संघर्ष की मर्यादा का प्रतिपादन है। वस्तुतः बहुजन सुखाय, बहुत हिताय की मूल धारणा को ही तुलसीदास ने राम के कर्म सौंदर्य के माध्यम से स्थापित किया है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई।

सर्वकल्याण तुलसी की भक्ति और काव्य–साधना दोनों का ही मुख्य लक्ष्य है। कृष्णकाव्य में यद्यपि प्रसंगवश कृष्ण के लोकरक्षक रूप की चर्चा की गई है वे कभी–कभी राक्षसों का वध करते हैं और इन्द्र के प्रकोप से बृज प्रदेश को बचाते हैं, लेकिन उनकी पूरी छवि लोकरक्षक की न होकर लोकरंजक की है। कृष्ण का संपूर्ण जादू उनके रूप–सौंदर्य के आकर्षण पर टिका है। कृष्ण की लीला में बाँसुरी और रास महत्वपूर्ण उपादान हैं। चाँदनी रातों में जमुना के खुले कछारों और वृन्दावन की अंगड़ाइयों में उन्मुक्त रासलीला मनुष्य की आदिम प्रणय आकांक्षा का ही आध्यात्मिक विस्तार है। इसलिए यह कविता प्रणय की उन्मत्तता में सौंदर्य और राग की एक गुलाबी दुनिया की सृष्टि तो करती है लेकिन वह अपने ही समय के मानवीय जीवन के सुख–दुख से बेखबर भी जान पड़ती है। इस बिन्दु पर राम और कृष्ण काव्य की ये भिन्नताएं सहज ही लक्षित की जा सकती हैं।

काव्य–संगठन के धरातल पर अपने–अपने अंतर्वस्तु के अनुरूप ही इन दोनों ही धाराओं में भिन्नता है। रामकाव्य का आधार एक कथात्मक इतिवृत्त है जहां एक पूरी कथा है और कथा में एक समूचा समाज है। स्वभावतः रामकाव्य की संगठन–शैली प्रबंधात्मक है। रामकाव्य के सभी कवियों ने प्रबंध–शैली को ही अपनी रचना का आधार बनाया है। वस्तुतः प्रबंध–शैली जीवन के सामाजिक यथार्थ के प्रति उत्तरदायी होती है अतः यह रामकाव्य के अनुकूल भी है। संगठन के धरातल पर कृष्णकाव्य में मुक्तक शैली को अपनाया गया है। कृष्णकाव्य की अन्तर्वस्तु प्रेम और सौंदर्य है और

उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS Ph 7659400, 9828446806 IAS/PCS

यह जीवन का संपूर्ण नहीं बल्कि एक आगामी पक्ष है। इसमें भावनाओं का अनन्त अवकाश है और एकांतिकता इसकी प्रकृति भी है और जरूरत भी। ऐसी अन्तर्वस्तु के लिए मुक्तक–शैली अधिक उपयोगी और अनुकूल होती है। यह स्वाभाविक ही था कि कृष्णकाव्य–परम्परा के कवियों ने मुक्तक काव्य–शैली को ही अपनाया। यद्यपि सूरदास का सूरसागर कृष्ण–जीवन के संदर्भ में एक कथात्मक आधार लिए हुए प्रतीत होता है लेकिन उसकी प्रकृति प्रबंधात्मक न होकर मुक्तक ही है। इसलिए कुछ विद्वानों ने सूरसागर को उन्मुक्तक प्रबंध के रूप में संज्ञापित किया है। भाषा के स्तर पर रामकाव्य प्रायः अवधी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है जबकि कृष्णकाव्य की भाषा सर्वत्र ब्रजभाषा ही है। रामकाव्य की तुलना में कृष्णकाव्य की भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित है। तुलसीदास ने और इस परम्परा के अन्य कवियों ने प्रायः दोहा–चौपाई और कवित्त–सवैया छन्दों का प्रयोग किया है जबकि कृष्णकाव्य में सामान्यतः पदों का और कालान्तर में कवित्त–सवैयों का प्रयोग किया गयाहै। काव्य–सौंदर्य की दृष्टि से दोनों काव्य–धाराएं हिन्दी साहित्य का शिखर प्रतिमान प्रस्तुत करती हैं। रचना और जीवन के गहरे संबंधों के कारण रामकाव्य समाज के निम्नतम तबके तक प्रसार पाता है। यह किसी भी रचना की बहुत महत्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है। दूसरी तरफ कृष्ण काव्य संगीतात्मक विधानों पर रचित होने के कारण सामान्य जनता से लेकर कला–मर्मज्ञों तक को प्रभावित करती है। इसलिए ये दोनों ही धाराएं काव्य–सौंदर्य के बिन्दु पर हिन्दी काव्य–परम्परा की अक्षय सम्पत्ति हैं।

समग्रतः राम और कृष्ण काव्यधाराएं अपने स्वरूप और प्रभाव में भिन्नताओं के बावजूद भारत के सांस्कृतिक मन और उसके चरित्र को वहन करती हैं। मानव जीवन के दोनों ही पक्षों संघर्ष और सौंदर्य को रचनात्मक स्तर पर प्रतिफलित करने के कारण ये अपने देशकाल का अतिक्रमण करती हैं और सभ्यता को संघर्ष और सौंदर्य के मूल्यगत निहितार्थों से परिचित कराती हैं। यह राम और कृष्ण काव्य की शक्ति और सनातनता का आधारभूत प्रमाण हैं।

भक्तिकाव्य का मानवतावादी स्वर

मानवाधिकारों का पूर्व रूप मानवतावादी चेतना है। मानवतावाद शोषित, दलित और अधिकार वंचित जनता के पक्ष में संघर्ष एवं सहानुभूति की चेतना है। मानवतावादी चिंतन और कर्म में प्रतिमानवीय शक्तियों की धारदार पहचान और उनकी उन्मूलन की प्रतिबद्धता अनिवार्य है। मानवतावाद के आधार पर

विवेक और संघर्ष की निरंतरता के द्वारा न्यायोचित पक्ष की स्थापना का आग्रह होता है इसलिए जड़ता और क्रूरता के विरुद्ध गति और करुणा का सनातन संघर्ष मानवतावाद का स्थायी आधार है। इस परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाव्य की मूल चेतना मानवतावादी मूल्यों से प्रेरित और रचित है। इस मानवतावादी चेतना को कुछ बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

1. मानव-मुक्ति की प्रस्तावना :

भक्ति-काव्य मानव-मुक्ति का काव्य है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ है जीने का समान अवसर। अधिकारों की समानता के बगैर मुक्ति एवं स्वतंत्रता भ्रामक एवं छद्म है। भक्ति का अधिकार मनुष्य मात्र को पहली बार भक्ति काव्य में दिया गया है। इसलिए भक्तिकाव्य भक्ति की जनतांत्रिक चेतना का निर्माण करता है। यह चेतना इतनी उदार है कि मनुष्य ही नहीं अपितु कोई भी प्राणी भक्ति कर सकता है। उदाहरण के लिए हम रामचरितमानस में जटायु की भक्ति को देख सकते हैं। मुक्तिबोध ने कहा है कि मुक्ति व्यक्तिगत नहीं सामूहिक होती है। भक्तिकाव्य में यह पाया जाता है। वस्तुतः मानवतावाद की जो परिकल्पना आधुनिक समाज-चिंतन में उभर रही है उसकी सहज चेतना भक्तिकाव्य में प्राप्त होती है। मानवमुक्ति का काव्य होने के कारण ही चेतना की मुक्ति अवसर की समानता, मानवीय जीवन में विराट प्रकृति की सहभागिता और मानवीय एकता का स्वर भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रांची) IAS Ph:2765400 IAS/PCS 9835448006

2. सामान्यता के प्रति निष्ठा भाव :

भक्तिकाव्य अपने मानवतावादी चिंतन में लोकजीवन की प्रतिष्ठा करते हुए असंख्य सामान्य मनुष्यों की चिंता करता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य की वास्तविक ऊर्जा का स्रोत सामान्य जीवन ही है। आभिजात्यता की गोद से नहीं बल्कि मनुष्य की सामान्यता की उर्वर भूमि से भक्तिकाव्य की उत्पत्ति हुई है। भक्तिकाव्य का कोई भी बड़ा कवि राजाश्रय को स्वीकार नहीं करता। सुविधाओं, निश्चिंतताओं, शास्त्र के भीतर से नहीं बल्कि जीवन की सहजता से भक्तिकाव्य का प्रस्फुटन हुआ है। इसलिए विविधतापूर्ण जीवन का सही चित्र भक्तिकाव्य में मिलता है। वस्तुतः भक्तिकाव्य वैविध्य का पूरा सम्मान करता है। वह भूगोल और संस्कृति की विभिन्नताओं का सम्मान करते हुए मनुष्य को एक धरातल पर

लाने की चेतना का काव्य है। सामान्यता के प्रति निष्ठा सभी कवियों में दिखायी देती है। सभी कवियों ने लोक परम्पराओं और उसके रीति-रिवाजों की प्रतिष्ठा अपनी कविता में की है।

3. जीवनमूल्य के रूप में लोकमंगल की स्थापना :

मनुष्य का कल्याण मानवतावाद का मूल लक्ष्य है। भक्तिकाव्य की समूची चेतना लोकमंगल की कामना करती है तथा उसके लिए संघर्ष का मार्ग भी अपनाती है। कबीर यह समझते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के रहते लोकमंगल की स्थापना संभव नहीं है, अत: वे लोकमंगल के लिए वर्णव्यवस्था तथा सांप्रदायिकता का विरोध करते हैं। उनके यहां लोकमंगल मनुष्य की एकता पर आधारित है। यह मानवतावादी चिंता सैद्धांतिक चिंता नहीं है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष अनिवार्य है। भक्तिकाल का कवि सत्य को जानता भी है तथा उसके लिए संघर्ष भी करता है।

जायसी का प्रेम लोकमंगल का आधार है। सामंती व्यवस्था में संप्रदाय में बंटे समुदाय को प्रेम के स्तर पर लाना लोकमंगल की व्याख्या के लिए आवश्यक है।

सूर के लोकमंगल में लोकरंजन का तत्व प्रधान है। वे संगीत, नृत्य तथा प्रेम के द्वारा समय की विसंगतियों का सामना करते हैं। उनके यहां स्वच्छंदता लोकमंगल का आधार है। अत: किसी प्रकार के भी बंधन की अस्वीकृति उनके यहां है।

तुलसीदास के लिए लोकमंगल का अर्थ मर्यादा की स्थापना है। वे मर्यादित समाज (रामराज्य) की स्थापना के द्वारा लोकमंगल की स्थापना करते हैं। इसके माध्यम से वे प्रतिमानवीय शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें परास्त करते हैं। तुलसीदास की लोकमंगल की धारणा अधिक ठोस, तार्किक तथा राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है। इस प्रकार लोकमंगल की परिस्थितियों का निर्माण भक्तिकाव्य की मुख्य चुनौतियों में से एक है और इस बिन्दु पर वह मानवतावादी काव्य है।

4. सामंती जीवन-मूल्यों से मानवीय विवेक की मुठभेड़ :

भक्तिकाव्य मूलत: प्रतिपक्ष का काव्य है। वह अपने समय की संपूर्ण सत्ता-संरचना के खिलाफ है। वह सामाजिक स्तर पर ब्राह्मणवाद, राजनीतिक स्तर पर सामंतवाद तथा धार्मिक स्तर पर पुरोहितवाद

का विरोध करता है। वस्तुत: सामंती शक्तियों तथा सामंती सामाजिक-संरचना से असंतुष्टि पूरे भक्तिकाव्य में है तथा उसमें इस पर प्रहार किया गया है।

भक्तिकाल की सामाजिक संरचना वर्णव्यवस्थावादी है। मनुष्य की श्रेष्ठता का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है। भक्तिकाव्य इसे अस्वीकृत कर वर्णव्यवस्था को तोड़ने का प्रयास करता है। निर्गुण कवियों द्वारा इस पर सबसे ज्यादा प्रहार किया गया है। सामंती जीवन में स्त्री की पराधीनता को मीरा द्वारा समाज एवं रचना के स्तर पर चुनौती दी गई है।

भोगवादी सामंती जीवन-दृष्टि के विरुद्ध भक्तिकाव्य चेतावनी का काव्य है।

5. करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना :

मानवीय सार्थकता के रूप में करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना भक्तिकाव्य की मानवतावादी चेतनाका एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण है। करुणा के आधार पर ही मनुष्य को जोड़ा जा सकता है। इसलिए भक्तिकाव्य के नायक जनरक्षक हैं। अवतारवाद की पूरी परिकल्पना करुणामय है। तुलसी के राम करुणमय हैं। इसलिए वे अन्याय के विरुद्ध हैं। करुणा को प्रस्तावित कर भक्तिकाव्य पाठक की चेतना में करुणा को उद्वेलित करता है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph. 27659400 IAS/PCS 9868486060

भक्तिकाव्य में आत्मविसर्जन को अनिवार्य माना गया है। वह अहंकार का विसर्जन करती है। अहंकार हिंसा, क्षुद्रता एवं क्रूरता को उत्पन्न करता है। मनुष्य की एकता आत्मविसर्जन के बगैर संभव नहीं है।

6. लोकभाषा की प्रतिष्ठा :

पूरे भक्तिकाव्य की चिंता नया मनुष्य तथा समाज बनाने की चिंता है। यह चिन्ता भाषा से भी जुड़ी हुई है। भाषा कई बार वर्चस्व, सत्ता तथा शासन का माध्यम भी बनती है। अत: कई बार भाषा आभिजात्यता की शर्त से जुड़ जाती है। मध्यकाल में संस्कृत ऐसी ही भाषा है। भक्तिकाव्य आभिजात्यता के दुर्निवार आग्रह को चुनौती देता है। संस्कृत के आतंक का प्रतिरोध भक्तिकाव्य में सायास दिखता है।

कबीर का कथन है - 'संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।' भक्त कवि लोकभाषा को रचना की भाषा बनाता है। लोकभाषा की वापसी आधुनिक मानवतावादी चेतना की भी चिंता है।

भक्तिकाव्य : सांस्कृतिक चेतना

मूलतः संस्कृति का प्रश्न जीवन-दृष्टि एवं मूल्य दोनों का प्रश्न है। भारतीय जीवन दर्शन अपरिग्रह के सिद्धांत पर आधारित है। अपरिग्रह आंतरिक स्वाधीनता के लिए अनिवार्य है।

भक्तिकाव्य भारत की संपूर्ण सांस्कृतिक धारा को पुनर्गठित करता है। भक्तिकाव्य की व्यापकता एवं अखिल भारतीय प्रसार का एक कारण उसकी सांस्कृतिक चेतना है। भक्तिकाव्य भारतीय संस्कृति के अतीत की स्मृति है। प्रत्येक भक्तिकालीन कवि परंपरा से ग्रहण करता है लेकिन उसमें अपने समय के समाज तथा संस्कृति की समग्र चेतना भी है, साथ ही भविष्य की गहरी चिंता भी। वस्तुतः संस्कृति, स्मृति, वर्तमान तथा भविष्य की समग्र चिंता है। भविष्य की चिंता नहीं हो तो पूरा संघ अंधा हो जाता है। अतः काल की बहुआयामिता संस्कृति का मूलाधार है। भक्तिकाव्य भी अतीत की स्मृति, वर्तमान की समाज चेतना और भविष्य की अंतर्दृष्टि से युक्त है। भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना को निम्नांकित बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है।

1. सामाजिक समरसता की चेतना :

भक्तिकाव्य में समाज में व्याप्त अनेक प्रकार की विषमताओं का समाहार है। समरसता हमारी सांस्कृतिक अस्मिता की बुनियादी जरूरत है। यह तब तक प्राप्त नहीं हो सकती है जब तक जीने का समान अवसर न मिले। भक्तिकाव्य में इसके प्रति एक गंभीर चिंता दिखाई देती है -

"एक दुखी एक अति सुखी एक भूप एक रंक,
एकन को विद्या बड़ी एक पढ़े नहीं अंक।
एकन को मेवा मिले एक चना भी नाहिं
कारण कौन बताइये कर चरनन की छांहिं!! - चरणदास

इसीलिए भारतीय संस्कृति की मूल चेतना 'सर्वे भवन्ति सुखिनः' भक्तिकाव्य में सबसे अधिक मानवीय प्रश्न है। भारतीय संस्कृति की समरसता की इस चेतना का आधार समानता की चेतना है।

2. **अन्याय का प्रतिकार :**

संस्कृति अगर मनुष्य होने की शर्त है तब यह न्याय की चेतना का पक्ष भी है। भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना का एक पक्ष अपने समय के प्रत्येक तरह के अन्याय का प्रतिकार करना है। भक्तिकाव्य स्वीकृति का नहीं, असहमति का काव्य है। भक्ति कविता चेतनता के बिंदु पर अन्याय का प्रतिकार करती है। मध्यकाल के घने अंधेरे में भक्तिकाव्य की भूमिका एक जलते हुए दीप की तरह है। भक्तिकाव्य अन्याय के बिंदुओं की पहचान कर उसका प्रतिकार भी करती है। कबीर के यहां अन्याय की गहरी पहचान मौजूद है। न्याय, अन्याय का प्रश्न औचित्य एवं अनौचित्य एवं ज्ञान तथा अज्ञान के फर्क का प्रश्न है। पूरा भक्तिकाव्य औचित्य की खोज का काव्य है। जीवन की उचित संदर्भों की खोज भक्तिकाव्य की वास्तविक चिंता है। भोगवाद के प्रतिकार की मूल चेतना मानवीय एवं सांस्कृतिक है। वर्ण-व्यवस्था, नारी की स्थिति, धर्म के पाखंडी रूप का अस्वीकार वहां है। निर्भयता की चेतना भी इसी से जुड़ी हुई चीज है। अन्याय के प्रतिकार की चेतना निर्भयता की चेतना से ही उत्पन्न हुई है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज प्रा.लि. IAS 700-IAS/PCS

3. **अहिंसा और करुणा की प्रस्तावना :**

भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना अहिंसा पर आधारित है। अहिंसा प्रकारांतर से सहन शक्ति तथा समझदारी के विकास पर आधारित है। अहिंसा जीवन जीने की एक पद्धति है जिसमें सभी स्वतंत्र व निर्भय होकर जीवन यापन कर सकें। तुलसी व कबीर के यहां इसकी चिंता विद्यमान है – 'दिन में रोजा रखत हौं, रात हनत हौं गाय।'

4. **क्षुद्रता का अतिक्रमण :**

भक्तिकाव्य हर तरह की संकीर्णता का विरोध करता है। उदारता का लक्षण समन्वय भावना है। भारतीय परंपरा तथा इतिहास की अनेक धाराएं इसमें समाहित हैं। निर्गुण तथा सगुण के बीच संवाद की स्थिति इसका उदाहरण है। भक्ति कविता विचारधारा के स्तर पर सांस्थानिकता का विरोध करती है।

संस्थानों से पंथों एवं मठों का निर्माण होता है जो मनुष्य तथा समाज विरोधी होते हैं। आधुनिक काल के चिंतन पर भी इसका प्रभाव है। मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक चेतना में दिखाई देता है। मनुष्य की सामाजिकता एवं चिंतन का विस्तार इसकी मूल चिंता में शामिल है। वस्तुतः मनुष्य को समष्टि की ओर ले जाने का प्रयास पूरी भक्ति कविता का एक मुख्य विषय है। समष्टि की यह चिंता विराटता एवं सार्थकता को जन्म देती है।

5. **आत्मसंयम तथा सदाचार पर बल :**

भक्तिकाव्य धर्म को आचरण से जोड़कर देखता है। धर्म महज विश्वास या दृष्टिकोण नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविकता तथा जीने की पद्धति है। भक्तिकाव्य सदाचार एवं सादगी पर बल देता है। सदाचार वह है जिसमें जीवन के सच का निर्वाह हो। सादगी, सीमित और जरूरी जरूरतों के भीतर जीवन-निर्वाह है। किसी भी मानवीय संस्कृति की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह सदाचार तथा सादगी के प्रति कितना समर्पित है। पूरी भक्ति कविता भौतिकता का तिरस्कार व सादगी तथा सदाचार के स्वीकार पर बल देती है। इसी कारण वह भौतिक तत्वों की नश्वरता को रेखांकित करती है। कबीर कहते हैं :

रहना नहीं देश वीराना है। — नश्वरता

. . . . . .

'साई इतना दीजिए जामै कुटुम्ब समाय (अपरिग्रह)
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।' ←संचय का विरोध

6. **समन्वयात्मक जीवन दृष्टि :**

समूचा भक्तिकाव्य समन्वय की चेतना का विराट काव्य है। यह परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों एवं दृष्टियों के समाहार का काव्य है। समन्वयशीलता सहनशीलता को जन्म देती है। यह सामाजिक संतुलन का काम करती है तथा विविधता को आदर देती है। इस तरह यह उदार सामाजिकता की स्थापना करती है। भक्ति कविता में अद्भुत समन्वयशीलता के दर्शन होते हैं। इसके सबसे बड़े कवि तुलसीदास हैं।

उनके रामराज्य का सपना समन्वय पर आधारित समाज का सपना है। इसीलिए यह गांधी का स्वप्न भी है। आधुनिक भारत के संविधान में भी इस समन्वय पर बल है। मूल्य के स्तर पर हिन्दुस्तान का आधार वही समन्वय का स्वप्न है जो भक्त कवियों ने देखा था।

7. **लोक कल्याण की चेतना :**

लोक कल्याण मनुष्य के सुसंस्कृत होने के मूल आधारों में से एक है। आधुनिक सांस्कृतिक चिंतन में लोक कल्याण का दर्शन शामिल है। भक्तिकाव्य में सगुण पंथ में अवतारवाद की संकल्पना लोक कल्याण से ही संचालित है। निर्गुणवाद में लोक कल्याण की यह प्रवृति समतामूलक समाज के स्वप्न में है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS Ph.2769400 IAS/PCS 9868148606

भक्तिकाव्य और लोकधर्म

'लोक' शब्द अनेकार्थी शब्द है। अंग्रेजी में जिसे कहते हैं साहित्य एवं कलाओं एवं सामान्य व्यवहार में हिन्दी में उसे 'लोक' के रूप में समझा जाता है - उदाहरण के लिए लोकगीत, लोककलाएं आदि। यहां लोक परिष्कृत, परिनिष्ठित या शिष्ट का विलोम है। लोक शब्द हिन्दी में साधारण जन के लिए भी प्रयुक्त होता है जिसका विलोम अभिजन या अभिजात वर्गों के लोग हैं। जब शुक्ल जी लोक जीवन की बात करते हैं, उनका मतलब प्रायः साधारण जनता के इसी विशाल भाग से होता है। लोक शब्द वस्तुजगत, बाह्य जगत या जिसे हम संसार कहते हैं, उसके लिए भी प्रयुक्त होता है - तब इसके विलोम के रूप में परलोक शब्द का व्यवहार होता है। साधारणतः लोक का अर्थ हम इसी संसार से लेते हैं, उस समाज से लेते हैं जिसमें मनुष्य रहता है और अपने क्रिया-कलाप करता है। यह संसार या समाज जिसमें हम रहते हैं - एक-सा नहीं है। इसमें अमीर भी हैं, गरीब भी, उच्च वर्गों के लोग भी हैं, निम्न वर्गों के लोग भी, शिक्षित, अशिक्षित सभी इसमें हैं। इन सबके अपने-अपने हित हैं जो आपस में टकराते भी हैं।

किंतु चूंकि हमारा देश विशाल देश है और इसकी बहुसंख्यक जनता श्रम करने वाली - किसानी, कारीगरी, मजदूरी या जीविकोपार्जन के अन्य साधनों को स्वीकार करने वाली जनता है, अधिकतर शिक्षित और गांवों में रहने वाली जनता है - और इस जनता में साधारण जन के अलावा साधारण जन में भी साधारण बहुत-सी जन-जातियां हैं, अस्पृश्य और अंत्यज हैं। अतएव शास्त्रोक्त विधि-विधानों से भिन्न, उनका सम्बन्ध सामाजिक आचार-व्यवहार से हो या धार्मिक आचार-व्यवहारों से, साधारण जनता की एक अपनी वैविध्यपूर्ण सामाजिक-धार्मिक आचार-संहिता, मान्यताएं, रीति-रिवाज, कानून, कायदे, आस्था-विश्वास आदि भी यहां शास्त्रोक्त विधि-विधानों के समानांतर विद्यमान भी रहे हैं और आचरित भी होते रहे हैं। कालांतर में जब वेद, उपनिषद, पुराण, स्मृतियां तथा अन्य नाना शास्त्र आर्य जाति द्वारा रचे गए तो स्वभावतः इनसे साधारण जनता में प्रचलित सामाजिक-धार्मिक आचारों-विचारों, मान्यताओं का कहीं मेल बैठा और कहीं नहीं बैठा। स्थिति यह हुई कि शास्त्र और लोक समानान्तर कभी मिलते, कभी टकराते चलते रहे। जहां अलगाव अधिक हुआ तो प्रभुत्वशाली पंडों ने शास्त्रों का सहारा लेकर जनता के उन लोगों को बाहरी घोषित कर दिया, वर्ण तथा चली आ रही जाति-व्यवस्था से बहिष्कृत कर दिया, ऐसे लोगों तथा समुदायों के बीच धार्मिक-सामाजिक रीति-रिवाज और कानून-कायदे शास्त्र से एकदम अलग हो गए और लोक-प्रचलित दूसरे आचार-व्यवहारों के साथ अपने ढंग से चलने लगे।

लोक और शास्त्र में टकराव की स्थितियां यों तो प्रत्येक युगों में विद्यमान रहीं, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, लोकायतों के अलावा आगे चलकर सिद्धों और नाथों ने भी चली आ रही वेद-शास्त्र विहित मान्यताओं, विचारों, आचार-व्यवहारों को चुनौती दी और और अपना अलग रास्ता बनाया, जिसे हम भक्ति का युग कहते हैं, लोक और शास्त्र का द्वन्द्व उसमें भी उभरा और उस दृष्टि से यदि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति युग का मुख्य अंतर्विरोध लोक और शास्त्र का द्वन्द्व मानते हैं तो यह गलत नहीं है। अपने ढंग से आचार्य शुक्ल भी यही कहते हैं। जब वे विद्यमान तमाम सारी सामाजिक-धार्मिक 'अव्यवस्था' के बीच तुलसी के आविर्भाव को, उनके 'समन्वयवाद' को, उनके द्वारा लोक को सही पटरी पर लाने और उसे आर्यशास्त्रानुमोदित पथ पर आगे बढ़ाने का श्रेय तुलसीदास जी को देते हैं। द्वन्द्व

की ये स्थितियां न होतीं तो शुक्ल जी द्वारा तुलसीदास के इस युगान्तरकारी महत्त्व का मतलब क्या है, बहरहाल यह शुक्ल जी का मत है जो यह सिद्ध करता है कि गोस्वामी जी के समय में जो लोक और शास्त्र के बीच शुक्ल जी की सोच के अनुसार जैसा तालमेल अपेक्षित है, वैसा नहीं था। यह भी स्पष्ट है कि भक्ति-आन्दोलन के समय लोक शास्त्र के ऊपर प्रबल हो उठा था, अन्यथा डा० रामविलास शर्मा भक्ति-आंदोलन को 'लोक जागरण' कहकर विज्ञापित न करते। उन्होंने लिखा है कि 'किसी समय रहस्यवाद ने साहित्य और समाज में बड़ी क्रांतिकारी भूमिका पूरी की थी। मनुष्य में ब्रह्म दर्शन करके कवियों ने मनुष्य-मात्र की समानता की घोषणा की थी। धर्म, संप्रदाय, वर्ण, मत-मतांतर आदि के भेदों का विरोध करके मानवता की प्रतिष्ठा की थी। पुरोहित और देववाणी के दर्प से आतंकित न होकर उसने लोक भाषाओं की साहित्य में प्रतिष्ठा की थी।' जाहिर तौर पर डा० रामविलास शर्मा का इशारा सगुण भक्ति कविता की ओर न होकर निर्गुण-भक्ति-काव्य की ओर/संतों की ओर है, कारण रहस्यवाद की बात प्रायः उन्हीं के संदर्भ में की जाती है, तथा धर्म, संप्रदाय, वर्ण और मत-मतांतर के भेदों का विरोध करते हुए मानवता की – एक मानवता की बात उन्हीं के माध्यम से सामने आई थी। अनेक बातों में समान होते हुए भी विचारों – विशेषतः सामाजिक-धार्मिक विचारों और उनके आचरण को लेकर निर्गुण और सगुण संतों और भक्तों का स्वर एक नहीं है। **निर्गुण संत जहां परम्परागत वेद, शास्त्र आदि को चुनौती देते हुए उनकी बुनियाद का ही विरोध करते हैं, वहां सगुण भक्त विशेषतः तुलसीदास तमाम सारे लचीलेपन के बावजूद बुनियादी तौर पर आर्य शास्त्रानुमोदित धर्म तथा समाज-व्यवस्था का समर्थन करते हैं और इसी नाते शुक्ल जी को प्रिय हैं। तभी शुक्ल जी द्वारा दी गई लोकधर्म की परिभाषा के भीतर तुलसी के विचार और उनके अर्थ तो अंट जाते हैं, निर्गुण संतों के विचार तथा अर्थ नहीं अंटते और शुक्ल जी सीधे उनका विरोध करते हैं और उनके विचारों तथा अर्थों को सामाजिक दृष्टि से 'लोक' की दृष्टि से (अपनी अवधारणा के लोक की दृष्टि से) अहेतुक बताते हैं।** लोक धर्म की शुक्ल जी की परिभाषा है –

"संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा, वही लोक धर्म होगा। जीवन के किसी भी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोक

धर्म नहीं। . . . . **जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक धर्म होता है।** . . . . जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है - जिससे समाज चलता है - वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन, सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।" शुक्ल जी आगे कहते हैं और अब अधिक स्पष्ट होकर कहते हैं - "ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए उनका पालन अलग-अलग व्यक्तियों ने चाहे कुछ किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है। **लोक-मर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद और शास्त्र की निंदा, ये सब बातें ऐसी थीं, जिनसे गोस्वामी जी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई"**

ऐसी स्थिति में स्पष्ट हो जाता है कि जिसे लोकधर्म कहते हैं उसकी अवधारणा तथा उसका पालन-अनुपालन समूचे भक्तिकाव्य में एक जैसा नहीं है। अलग-अलग संतों और भक्तों में उसका रूप अलग-अलग है - संतों तथा भक्तों में तो वह अलग है ही।

मसलन, कबीर की बात लें। शुक्ल जी के मत से, जैसा कि उनके ऊपर के कथन से स्पष्ट है, कबीर उनकी परिकल्पना के लोक धर्म के विरोधी हैं। वे पढ़े-लिखे न होकर भी ज्ञान की बात करते हैं, वेद और शास्त्रों की आलोचना करते हैं, पंडितों को चुनौती देते हैं, उनकी मखौल उड़ाते हैं, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार करते हैं आदि-आदि। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को कबीर का यह आचरण बुरा नहीं लगता। वे इसमें कबीर के 'अस्वीकार का साहस' देखते हैं, उनके व्यक्तित्व का तेज पाते हैं और उनकी साधना की गहराई और निष्ठा का प्रमाण पाते हैं। किंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जहां कबीर के इस आचरण में शास्त्र पर लोक का द्वन्द्व तो पहचान लेते हैं, उसे उभारते भी हैं, किंतु उस द्वन्द्व को नहीं पहचान पाते जो कबीर के यहां लोक और लोक के बीच है। कबीर यदि अनपढ़ होते हुए वास्तविक अर्थों में ज्ञानी हैं तो इसलिए कि वे परंपरागत वेद और शास्त्रजन्य मिथ्या आचारों-विचारों एवं

मंद बुद्धि की भर्त्सना तो करते ही हैं, उन लोकाचारों की धज्जियां भी उड़ाते हैं, मसलन, तमाम प्रकार के सामाजिक-धार्मिक अंधविश्वास, तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, टोटका आदि जो साधारण जन व लोक के बीच प्रचलित थे। आचार्य द्विवेदी, उन्हें न केवल लोकधर्म के भीतर स्वीकार करते हैं कहीं-कहीं उन्हें डिफेंड भी करते हैं, उन्हें सही और उचित भी बताते हैं। कबीर यहीं कबीर हैं और इन आचार्यों की पकड़ से भी बाहर हो जाते हैं। वेद-शास्त्र, कुरान और सुन्नत ही नहीं, पंडित और मुल्ला, पांडे और काजी ही नहीं, वे लोक को भी समान आक्रोश के साथ फटकारते हैं। इन लोकपरक विश्वासों को कबीर लोकाचार कहते हैं और ऐसे मिथ्या लोकाचारों की भी धज्जियां उड़ाकर रख देते हैं। कबीर मृत्यु के समय काशी छोड़कर मगहर चले गए थे, इस लोक-विश्वास को छोड़ते हुए कि काशी में मरने से मुक्ति मिलती है और मगहर में मरने वाले को निकृष्ट पशु योनि। काशी छोड़ते समय लोक को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था 'काशी काबा एक है, एकै राम का तुम हो मति के भोरा।' निरर्थक कर्मकाण्ड - माला फेरना, गंगा नहाना, तीर्थ, व्रत करना जिसके लिए उपहास की वस्तु हो - जादू, टोना, तंत्र और मंत्र उसके लिए क्या होंगे, सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कबीर ने किसी भी प्रकार के धार्मिक समन्वयवाद का विरोध किया, यह हम कह चुके हैं - वे वस्तुतः एक नए धर्म की बुनियाद रखनाचाहते थे, वह था मनुष्य धर्म। वे हिंदू, मुसलमान, जाति, पांति, स्पृश्य-अस्पृश्य से परे एक ऐसी मनुष्यता के विश्वास थे - जहां मनुष्य और मनुष्य में भेद न हो। कबीर के इस प्रयत्न को, उनकी इस सोच को, परंपरागत समाज-व्यवस्था तथा धर्म-शास्त्र विरोध को उनका लोक धर्म-विरोधी आचरण कहा जाय या एक नए लोक धर्म की प्रतिष्ठा- शुक्ल जी के लिए वह लोक-धर्म विरोध हो, सामाजिक आराजकता का प्रश्रय हो, हमारे लेखे कबीर का यही लोकधर्म उन्हें अपने समय से आगे, हमारे अपने समय की सोच से बांधता है। यही कबीर का युगांतरकारी क्रांत दृष्टा व्यक्तित्व है जिसे शुक्ल जी पहचानते हुए भी अपने पूर्वाग्रहों के चलते रेखांकित नहीं कर सके और न ही द्विवेदी जी रेखांकित करते हुए भी उसे मिथ्या लोकाचार से अलगा सके। जो कबीर का लोक धर्म है, वही नानक का तथा दूसरे संतों का है। इस लोक धर्म में अन्याय, अनीति, भेदभाव, निष्प्राण रूढ़िवाद, धार्मिक वितंडावाद सबका विरोध है, उसका

सम्बन्ध शास्त्र से हो अथवा लोक से। कबीर के इस लोक धर्म को पहचानना ही कबीर को सही रूप में पहचानना है। हम यह भी कह चुके हैं कि कबीर थोथे योग को भी अस्वीकार करते ... भस्म-भभूत, समाधि और साधनाजन्य चमत्कारों से उनका कोई वास्ता नहीं, लोक को बराबर इस पाखंड के प्रति वे सावधान करते हैं। ऐसे कबीर की संगति किसी से नहीं बैठती, पोथी ज्ञान की हंसी उड़ाने वाले तथा 'पंडित-वाद वदंते झूठा' कहकर उनकी आलोचना करने वाले तथा काजी-मुल्लाओं से हैरानी में डाल देने वाले और उन्हें विचलित कर देने वाले सवाल को पूछने वाले कबीर की यदि प्रभुत्वशाली वर्गों ने, धर्म के ठेकेदारों ने उनके अपने समय की खिलाफ की तो यह स्वाभाविक था। 'अरे ओ ब्राह्मण, यदि तुम ब्राह्मणी के जाए हो तो बताओ कि तुम और किसी रास्ते से दुनिया में क्यों नहीं आए' और मुल्ला, तुम बताओ कि खतना माँ के पेट से कराके क्यों नहीं आए या तुम दोनों बताओ कि यदि भगवान मंदिर में रहता है, खुदा मसजिद में, तो जहां मंदिर और मसजिद नहीं है - वहां किसकी ठकुराई है ?

कबीर के यही सवाल उनके समय में भी अनुत्तरित रहे और आज भी हैं, उनका 'मनुष्य सत्य' उनके समय में भी एक आकांक्षा बना रहा, आज भी है, उनका लोक धर्म उनके अपने समय में काम्य रहा, आज भी है किंतु जैसा हमने पिछले निबंध में कहा है - आने वाली शताब्दी कबीर की शताब्दी होगी।

मलिक मुहम्मद जायसी सूफी संत के रूप में ख्याल हैं। सूफी संत वे हों या न हों जैसा कि विजय देवनारायण साही का कहना है, वे कवि हों - प्रेम के कवि, किंतु उनकी सहृदयता और मनुष्यता को शुक्ल जी ने भी रेखांकित किया है। 'मुसलमान होते हुए भी उन्होंने अपने मनुष्य होने का परिचय दिया', शुक्ल जी का यह कथन व्यक्ति की धार्मिक पहचान से परे उनकी इंसानी पहचान को महत्व देता है। कबीर या सगुण भक्तों की तरह कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि 'रामचरित मानस' की भांति उनकी रचना सामाजिक स्थितियों की जरूरत या मांग के चलते हुई हो। उनका समय भी गोस्वामी जी के आसपास का ही समय था।

जायसी ने इस लोक कथा के उत्तरार्द्ध में इतिहास-प्रसिद्ध कथा को गूंथा है और इस प्रकार उनका पद्मावत काव्य की तथा इतिहास की ऐसी मिली-जुली प्रस्तुति है जिसमें लोक का कथा-रस, कथानक-रूढ़ियां, हिन्दुओं के प्रचलित धार्मिक विश्वास, तिथि-त्यौहार सब कुछ एक-रस हो गए हैं। अवध-प्रदेश के साधारण लोगों की जिन्दगी की छवियां भी नागमती-वियोग में हैं। किंतु जायसी में जो यह सब कुछ है वह लोक तत्व है, जिसे लोक धर्म कहकर हमने ऊपर व्याख्यायित किया है, यह वह नहीं है। पद्मावत में जहां रतनसेन और नागमती-पद्मावती हैं, वहां अलाउद्दीन खिलजी भी है, उनकी चित्तौड़ विजय भी है। रूप लोभ के तहत खिलजी चित्तौड़ पर हमला करके उसे जीतता है - किंतु जिसे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का टकराव कहेंगे, ऐसा कोई टकराव भी यहां नहीं है - कम से कम उसका चित्रण जायसी को साध्य नहीं है।

अलाउद्दीन को 'माया' कहते हैं - लेकिन बहुत कुछ असम्पृक्त और तटस्थ भाव से उसकी चित्तौड़ विजय को चित्रित करते हैं। उनकी सेक्यूलर मानसिकता को भी सराहा है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS Ph:7659400-IAS/PCS-9868444606

वस्तुतः जायसी में यदि लोकधर्म का स्वरूप हमें ढूंढ़ना और पाना ही हो तो उसे हम उनकी उस संत-सूफी मानसिकता में पा सकते हैं जहां वे धर्म से परे प्रेम के दृढ़ सूत्र में मनुष्यता को पिरोने की बात करते हैं और इस प्रेम तत्व को सबसे बड़ी पूंजी-मनुष्य के सबसे बड़े पुरुषार्थ के रूप में रेखांकित करते हैं। उनके विचार से यह प्रेम ही मनुष्य को ईश्वर तक ले जा सकताहै - उन्हें तो आपस में बांधता ही है। 'मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी' उनकी प्रसिद्ध उक्ति है। प्रेम तत्व की विराटता, उसकी पवित्रता तथा जीवन में उसकी आवश्यकता पर बराबर उनका बल रहा है। इंसानियत उनका भी साध्य है। सत्कर्म और सात्विक अंतःकरण तथा मन पर उनकी भी आस्था है शैतानियत की वे भी बहुत भर्त्सना करते हैं, माया को प्रपंच मानते हैं। चित्तौड़-विजय के उपरांत अलाउद्दीन खिलजी को वे उसकी औकात बता देते हैं जब पद्मावती के बजाय उसे उसकी राख मिलती है। शांत रस में उनके काव्य का पर्यावसान होता है। तमाम सारे प्रचलित लोक-विश्वासों और कथा रूढ़ियों को चित्रित करते हुए भी उनका सारा बल प्रेम और इंसानी रिश्ते की इसी

प्रेम पर टिकी छवि पर रहा है। उनके लोक धर्म का यह रूप उन्हें कबीर जैसे संतों से जोड़ता है और उन्हें एक सूफी संत की गरिमा प्रदान करता है।

वल्लभाचार्य ने भले सूर को अपने संप्रदाय में दीक्षित किया हो, वल्लभाचार्य भले म्लेच्छाक्रान्त धरती में कृष्ण के आश्रय में ही भक्ति की कल्पना कर रहे हों, जब सूर से उन्होंने लीला-गायन करने को कहा, तो सूर ने जो लीला गाई उसमें संप्रदाय और विचार कहीं कहरे हों तो हों, उन्होंने मनुष्य-मात्र को उस गायन की लपेट में ले लिया है। सूर में भी कोई सामाजिक मिशन हमें नहीं दिखाई पड़ता जैसा कि तुलसी के सामने वह था। उनकी लीला-गायकी ने संतप्त समाज का रंजन किया हो यह और बात है - और रंजन तो उसने किया ही, किंतु सूर ऐसे-किसी लक्ष्य को सतह पर सूचित नहीं करते। वे कृष्ण के अनन्य भक्त हैं - उन्होंने कृष्ण के लीला रस में डूब कर गायकी की है। जाति से वे भी ब्राह्मण थे - संस्कार भी उन्हें वंश-परंपरा से मिले थे, किंतु उनके लीला गायन को जो स्कोप है, उसकी जो सीमा है, उसमें जो प्रसंग उन्होंने उठाया है, वे उन्हें इतना अवकाश या स्पेस नहीं देते कि उनके अंतर्गत ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के नाते प्राप्त संस्कार तथा सोच की अभिव्यक्ति हो सके। इन लीला प्रसंगों में वे इन्हें लाना भी चाहते तो वे आरोपित लगते या तब सूर सही अर्थों में सूर नहीं होते। अतएव अपनी विषय-वस्तु के नाते वे तमाम सारे सामाजिक-धार्मिक, आचार-व्यवहारों, मान्यताओं और विचारों की परंपरागत आर्य शास्त्रानुमादित व्यवस्था के चित्रण से बच गए हैं।

वल्लभाचार्य की अपनी विचारणा ही प्रेम को सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानने की रही है, सो यह प्रेम तत्व अपनी पूरी शक्ति और ऊर्जा के साथ सूर के यहां विद्यमानहै। इस प्रेम तत्व और इस लीला गायन में चूंकि दूसरी तमाम चीजें नहीं आ पाई हैं - और उसका स्वरूप ऐसा है कि हिंदू-मुसलमान सब उसमें डूबे-उतराए हैं। मुसलमान कृष्ण-भक्तों की अच्छी-खासी परंपरा हिन्दी में है। वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों में हर कोई विचरण कर सकता है। सूर ने उन्हें इस प्रकार संजोया है कि वर्ग-वर्ण, धर्म, जाति, नस्ल, संपद्राय, सबसे परे उनमें सबके लिए रमने का अवकाश है। अतएव सूर के यहां भी सबसे बड़ा लोक धर्म यदि कुछ है तो वह प्रेम है। कृष्ण के लोकरक्षक रूप की झांकियां बीच-बीच में उन्होंने दी हैं परंतु उनकी वृत्ति लीलागायन में ही रमी है। ब्रज की लोक-संस्कृति पूरी ऊर्जा और

उठान में उनके यहां है किंतु हम फिर कहेंगे कि यह लोक तत्व की चीज है। लोक धर्म सूर के लिए प्रेम ही है - और जब वे इस प्रेम का चित्रण करते हैं, लीलाओं में डूबते हैं तो जिसे शुक्ल जी ने लोक धर्म कहा है, सामाजिक मर्यादा कहा है, वे सब इस प्रेम और इन प्रेम लीलाओं के प्रवाह में तिनके के समान ऊब-डूब करते दिखाई पड़ते हैं। जब ईश्वर की परिकल्पना ही शिशु के रूप में हो तो शिशु के मन में भेद-बुद्धि कहां - स्पृश्य-अस्पृश्य सब कुछ उसके लिए समान हैं और उसकी लीलाओं में सबके रमने के लिए भरा-पूरा अवकाश है।

प्रेम के इसी सात्विक माहौल में गोपियों और कृष्ण की लीलाएं हैं, महारास है, गोचारण है, चीर-हरण - सब कुछ तो है। परंपरागत तमाम सारी सामाजिक-धार्मिक मर्यादा यहां नगण्य होकर रह गई है। शुक्ल जी कबीर पर परोक्ष व्यंग्य करते हैं कि अनपढ़ होकर भी वे वेद-शास्त्र की निंदा करते हैं, पंडितों-ज्ञानियों की आलोचना करते हैं। सूर तो ब्राह्मण कुल के थे, कबीर जैसे पोथी ज्ञान से वंचित भी नहीं थे किंतु उनके द्वारा रची-सिरजी उनकी गोपियां अथवा ग्रामीणाएं कैसे उद्धव जैसे ब्रह्मज्ञानी का मखौल उड़ाती हैं, उन्हें हैरान करती हैं और निर्गुण ब्रह्म के समक्ष प्रश्न-चिह्न लगाती हैं।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS PH:276500 IAS/PCS:9868448806

यही नहीं महारास के अवसर पर, वंशी की ध्वनि सुनते ही पारिवारिक मर्यादा, लोक-लाज, घूंघट-पट सबका तिरस्कार करते हुए यत-रात भर कृष्ण के साथ यमुना किनारे नृत्य करती हैं - और यही शुक्ल जी भावातिरेक में, पूर्वाग्रहों से मुक्त इस प्रेम को नारी-पुरुष के बीच के इस स्वच्छ प्रेम को जीवन-महोत्सव कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि लोक धर्म का रूप वही नहीं है जो तुलसीदास के यहां है, या जिसे शुक्ल जी ने लोक धर्म कहकर विज्ञापित किया है। लोक की हित-चिंता, लोक का मंगल वही नहीं है जो शुक्ल जी द्वारा परिकल्पित है, वह वैसा भी हो सकता है जिसकी परिकल्पना कबीर ने की थी। आर्य शास्त्रानुमोदित धर्म और समाज व्यवस्था से ही लोक का मंगल है - यह किसी की मान्यता हो सकती है सबकी नहीं। उनसे मुक्ति में ही लोक का कल्याण होगा . . . . यह विचारणा भी बराबर रही है - बुद्ध, महावीर आदि ऐसा ही कहते थे। अतएव लोक-धर्म का कोई बना-बनाया सनातन सांचा नहीं हो सकता। समय और स्थितियों के संदर्भ में उनका रूप अलग-अलग भी हो सकता है और उनसे सम्बन्धित सोच भी

भिन्न-भिन्न हो सकती है। नारियां गृहिणी बनकर पुरुष के अनुशासन में घर की चारदीवारी के भीतर रहें - शास्त्र इसकी व्यवस्था देते हैं। किसी के लिए लोक धर्म यह है तो किसी के लोक धर्म नारी-पुरुष के समतुल्य प्रेम सम्बन्धों में, उनकी समकक्षता में, नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व में, नारी मुक्ति में ही चरितार्थ हो सकता है। हमने गोपियों की इस प्रेम-लीला को नारी-मुक्ति से, सामंती चौखटों से नारी-मुक्ति में महत्वपूर्ण माना है और सूर को इसका श्रेय दिया है कि वे नारी मुक्ति की, उस युग में ऐसी परिकल्पना कर सके। यही सूर का बड़प्पन है। प्रेम तत्व यहां भी लोकधर्म की खरी पहचान के रूप में कबीर और जायसी की तरह विद्यमान है। जो लोकधर्म सूर के यहां है वही अधिक उदग्र रूप में मीरा के यहां है। 'मीरा हरि के हाथ बिकानी, लोग कहै बिगरी' या 'संतन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई' - मीरा की ये तथा इन जैसी तमाम उक्तियां **लोक धर्म के उन रखवालों के लिए, उनके लिए परम्परागत धर्म और शास्त्र ही प्रमाण है के मीरा को लोक विरोधी घोषित करने के लिए पर्याप्त हैं। आखिर कबीर भी तो इसी नाते लोक विरोधी माने गए हैं।** अब कोई मीरा से पूछे या मीरा का जो आत्म निवेदन है, उसके साक्ष्य पर बताए कि लोक धर्म क्या होता है, या लोक धर्म किसे कहते हैं।

भक्ति-आन्दोलन ने भक्ति के धरातल पर ही सही, नारी और शूद्रों को भी अन्यों की भांति भक्ति के अर्थ में बराबरी के हक के साथ आने का आमंत्रण दिया, उन्हें उकसाया और प्रेरित किया। इसका प्रभाव शूद्रों तथा नारियों की सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा। सामंती चौखटों में घुटती-तड़पती नारी उन चौखटों को तोड़ने के लिए कसमसा उठी। भक्ति में उसे यह आधार मिला या भक्ति ने उसे यह आधार प्रदान किया और इसकी उदाहरण हैं - मीरा, राजवंश की, प्रसिद्ध राजवंश की वधू मीरा, राजमहलों को ठुकरा कर जो बाहर आगई - और फिर कभी महलों में नहीं लौटीं।

प्रेम तत्व मीरा के काव्य का भी प्राण तत्व है। यह प्रेम कृष्ण के प्रति है या किसी के भी प्रति- जिसके विषय में बात उठाई गई है, यह नारी का सच्चा प्रेम है जिसमें अनन्यता है, त्याग है, समर्पण है, अप्रतिहत निष्ठा है। **यह प्रेम सबसे बड़ी शक्ति है उस नारी की जो धर्म, वेद, शास्त्र, कुल-कानि, लोक-समाज सबसे हटकर उनके द्वारा लगाए गए बंधनों को छिन्न-भिन्न कर अपने**

प्रणय को अंजाम देना चाहती है। मीरा ने यही किया। मीरा पर हम कह चुके हैं कि जिसे समाज या शुक्ल जी की भाषा में लोक कहते हैं उसने, परिवार-जनों ने, मीरा पर कौन-कौन से कहर नहीं ढाए, क्या क्या उन्हीं नहीं भोगना पड़ा। अंततः वे महलों से निकल कर बाहर आईं, साधु-संतों की संगति में उन्हें संतोष मिला। जिस कृष्ण के लिए, जिस प्रियतम के लिए घर से निकली थीं, जिसके नाते तमाम कुछ भोगा और सहा था, उसी के लिए दर-दर भटकते हुए अंततः उसी में समा गईं।

लोक धर्म का एक रूप तुलसीदास में भी है, जिनकी रचना का दायरा समूचे मानव जीवन तक, समूचे समाज तक व्याप्त है और जिनका आविर्भाव सामाजिक संक्रांति के एक खास दौर में हुआ था। गोस्वामी जी पंडित थे, ज्ञानी थे और सच्चे भक्त थे। उन्हें अपनी परंपरा से बहुत कुछ मिला था - या कहें परंपरा से उन्होंने बहुत कुछ अर्जित किया था। वे द्रष्टा भी थे, चिंतक और विचारक भी थे। अपने समय के समाज से उनकी असहमति ही उनकी रामराज्य की परिकल्पना के रूप में सामने आई है। जो कुछ परंपरा से उन्हें मिला था, जो कुछ उनकी सामाजिक और धार्मिक सोच थी, भक्ति की उनकी जो परिकल्पना थी, उनके संदर्भ में वे अपने समय के समाज को देख रहे थे - उसकी गतिविधि से विक्षुब्ध थे और उसे अपनी परिकल्पना की सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व्यवस्था देने के आकांक्षी थे। शील-शक्ति और सौंदर्य ईश्वरीय विभूति की इन तीनों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उन्हें राम का चरित्र ही ऐसा मिला जिनमें इनका संपुंजन था। राम के चरित्र को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपनी उपर्युक्त सोच को व्यावहारिक रूप देने के हेतु 'मानस' तथा अन्य ग्रंथों की रचना की और अपनी रचना सामर्थ्य तथा बड़े लक्ष्य के तहत युगांतरकारी व्यक्तित्व, भक्त तथा कवि के रूप में सराहे पहचाने गए।

गोस्वामी तुलसीदास से सम्बन्धित अपनी पिछली चर्चाओं में हम बता चुके हैं कि उनके यहां अंतर्विरोध है तो उस भूमि पर जहां वे समाज द्रष्टा, परम्परागत वे शास्त्रों के प्रति निष्ठावान वेद शास्त्र विहित सामाजिक एवं धार्मिक आचार-संहिता के, मर्यादा के प्रवक्ता, अपने अर्जित तथा वंश-परंपरा से प्राप्त संस्कारों के तहत एक मिशनरी समाज-द्रष्टा के रूप में सामने आते हैं और जहां वे महज एक आर्त्त भक्त हैं, भक्ति-आंदोलन की उदात्त चेतना के संवाहक, एक संवेदनशील कवि एवं सहृदय मनुष्य हैं। तुलसी के इन दोनों व्यक्तित्वों का अंतर्विरोध उनके काव्य में बराबर दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी

तुलसी के माध्यम से जिस लोक धर्म की प्रतिष्ठा देखते हैं और जिसे वे वास्तविक तथा आदर्श लोक धर्म कहते हैं, उसका सम्बन्ध तुलसीदास के पहले रूप से अधिक है। दूसरे धरातल पर वे उसके विपरीत भी जाते हैं और जैसा हम कह चुके हैं - भक्ति को ही सबसे बड़ा मानते हैं, वह किसी के द्वारा की गई हो -

मोरे मन अति दृढ़ विश्वासा।
राम से अधिक राम कर दासा।।

भक्त को भगवान से भी श्रेष्ठ मानना गोस्वामी जी के इसी दूसरे व्यक्तित्व की पहल है। पहले वाले रूप में तो वे शुक्ल जी के द्वारा जैसे विवेचित-विज्ञापित हैं - लोक संग्रही समन्वयकर्ता, समाज संस्कारक, वेद-शास्त्र विहित सामाजिक धार्मिक मान्यताओं के प्रतिष्ठाता, दुष्टों के दलनकर्ता तथा धर्म की संस्थापना करने वाले अवतारी रूप-के उपासक आदि हैं। अपने इस रूप में भी गोस्वामी जी एक दम वही नहीं हैं जैसा परम्परागत आस्थाओं के तहत उसके जड़ प्रतिपादक उनसे चाहते थे। इसी नाते अपने समय में गोस्वामी जी को भी कट्टर पंडितों का विरोध सहना पड़ा था - 'धूत कहौ, अवधूत कहौ' - जैसी झुंझलाहट भरी उक्ति कहनी पड़ी थी। गोस्वामी जी अपने तई परंपरागत व्यवस्था को अपनी भक्ति के दबाव में कुछ उदार भी बनाते हैं, उसे अधिकाधिक मानवीय बनाना चाहते हैं किंतु एक सीमा के भीतर। **उनके रामराज्य में चारों वर्ण सुखी हैं कोई भी विषमता नहीं है, किंतु हैं चारों वर्ण। वे वर्ण-व्यवस्था को अपने ढंग से नई मर्यादा, नया स्वरूप देना चाहते हैं। यही काम शुक्ल जी भी करते हैं, किंतु वर्ण-व्यवस्था की समाप्ति, चली आ रही सामाजिक संरचना की बुनियाद को मिटा देने के पक्ष में वे कतई नहीं हैं। वे सुधारक हैं, सुधार चाहते हैं - इससे आगे और कुछ नहीं। अतएव स्वाभाविक है कि अपने सामाजिक सरोकारों के चलते और अपने महत लक्ष्य के चलते लोक धर्म का जो रूप उन्होंने उभारा है उसका मेल संतों से या औरों से न बैठे।** यही हुआ भी है। गोस्वामी जी अपने ढंग से बड़े हैं- उनके कवित्व में बड़प्पन है, उनकी समाज-चिंता, उनकी लोक-चिंता का दायरा बड़ा है, उनकी सूझबूझ बड़ी है। लोक के साथ शास्त्र का समन्वय कर, दोनों की शक्ति को पहचानते हुए उन्होंने जो कुछ रचा और कहा, समाज के एकड़ भाग पर, साधारण

जन तक पर भी उसका गहरा और स्थायी प्रभाव है। लोक चित्त की उनकी पहचान अनूठी थी - इसी नाते लोक में उन्हें मान्यता मिली। उनके महत्व का अवमूल्यन नहीं हो सकता।

गोस्वामी जी एक भक्त भी हैं- बचपन में दरिद्रता को, गहरी दरिद्रता को भोगने वाले, अभावों की यातना से गुजरने वाले, साधारण जन के कष्टों से द्रवित होने वाले. उनका यह रूप उनके अन्य रूपों से किसी प्रकार भी कमतर नहीं है। विनयपत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक जैसी रचनाओं में वे हमें भीतर तक प्रभावित करते हैं। वे अकाल पर लिखते हैं - दरिद्रता रूपी रावण से मुक्ति की याचना अपने राम से करते हैं, मनुष्य के भावजगत में गहरे उतरते हैं, उसे कर्मठता का संदेश देते हैं। गोस्वामी जी यहां भी हैं। **उनके लोक धर्म में वह सब भी शामिल है जो उन्हें अपने समान धर्माओं से जोड़ता है। उनके लोक धर्म में ऐसा भी बहुत कुछ है जो उन्हें उनसे अलग करता है। हमें इन दोनों स्थितियों के बीच से उनके लोक धर्म का सही आकलन करना चाहिए।**

समग्रतः भक्ति काव्य में लोक धर्म की यही वैविध्यपूर्ण छवि है। जैसा हमने कहा कि **भक्ति काव्य में लोक धर्म किसी एक सांचे में ढला लोक धर्म नहीं है। संतों तथा भक्तों ने उसे अपने-अपने अनुभवों, सोच तथा नीतियों के तहत उभारा है।** एक बात जो विश्वास के साथ कही जा सकती है, वह यह कि **अपनी संवेदना तथा सोच के सबसे उदात्त क्षणों में वे एक ईश्वर से प्रेम की, मानव-प्रेम की, सच्चे प्रेम की बात करते हैं, लोक के कष्टों से द्रवित होते हैं और उससे लोक की मुक्ति के लिए ही अपने-अपने आराध्यों के समक्ष नत होते हैं।** भक्ति के धरातल पर, संसार के सारे कर्तव्यों को संपादित करते हुए, संसार से प्रेम करते हुए सच्चे अंतःकरण से वे आराध्य के प्रति अहेतुक, निस्वार्थ भक्ति के हामी हैं। उनका मानना है कि जिस समाज में मानव प्रेम तथा भक्ति का यहरूप विद्यमान होगा वह समाज उन्नत होगा। इसी उन्नत समाज की परिकल्पना उन्होंने की है और इसे अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित किया है।

भक्तिकाव्य का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेय

भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य की अपनी अब तक की चर्चा में हम जिस बात को बराबर रेखांकित करते आए हैं, और जो वस्तुतः हमारी चर्चा का केन्द्रीय स्वर बनी है, वह यह कि भक्तिकाव्य, धर्म और भक्ति की केन्द्रीयता के बावजूद महज पूजा-पाठ, ध्यान-उपासना और उनके माध्यम से इस लोक के दुःखों से मोक्ष पाते हुए परलोक में सुख भोगने का संदेश और प्रेरणा देने वाला काव्य नहीं है, धर्म और भक्ति के आवरण में वह सामाजिक अन्याय के विरोध में और मानवीय न्याय के पक्ष में, एक उन्नत मानवीय समाज और एक उन्नत मूल्य-व्यवस्था के पक्ष में खड़ा होने वाला और उसके लिए संघर्ष करने वाला काव्य है। ऐसा नहीं है, जैसा कि प्रायः ऊपरी तौर पर समझ लिया जाता है कि सामाजिक अन्याय के विरोध में और मानवीय न्याय के पक्ष में, निर्गुणसंतों के स्वर ज्यादा मुखर हैं और उनमें अधिक ऊष्मा है, जब कि सगुण भक्ति की कविता में परंपरागत सामाजिक संरचना का प्रायः समर्थन हुआ है, और उसमें चली आ रही सामाजिक सोच को भी थोड़े-बहुत संशोधनों के साथ प्रायः स्वीकार किया गया है। वस्तुतः भक्ति और अध्यात्म की जमीन पर निर्गुण और सगुण कविता में आलंबन के निर्गुण और सगुण होने के बावजूद लगभग समानता ही है। अंत दिखाई पड़ता है जब ये भक्त कवि अपने समय और समाज पर दृष्टि डालते हैं, उनका चित्रण करते हैं और उन पर अपनी राय देते हैं। यहां जरूर ऐसा लगता है कि सगुण भक्तों की तुलना में निर्गुण संतों की सामाजिक सोच अधिक प्रगतिशील है, और सामाजिक अन्याय या चली आ रही सामाजिक संरचना की अमानवीयता के विरोध में वे ज्यादा मुखर और चिन्तनशील हैं। परंतु इस निर्णय पर पहुंचने के पहले हमें निर्गुण संतों और सगुण भक्तों की रचनाशीलता से समग्रता में साक्षात्कार करने की, उसे ऊपर-ऊपर ही नहीं, भीतर तक पढ़ने और गुनने की जरूरत है। लोक और शास्त्र से अपने-अपने लगाव के चलते क्रमशः निर्गुण और सगुण कविता अपने-अपने ढंग से समृद्ध और सीमाबद्ध जरूर हुई है, बदलते हुए समय ने भी उन पर अपने निशान लगाए हैं। निर्गुण और सगुण भक्तों का समाज दर्शन एक जैसा जरूर नहीं है, परन्तु जैसा हमने कहा, बावजूद इसके, अपनी सामाजिक चिन्ता में, अपने मानवीय सरोकारों में सगुण भक्त निर्गुण संतों से एकदम अलग-थलग नहीं हैं। कविता

महज विचार ही नहीं होती, मनुष्य का इंद्रिय बोध और उसका भावजगत भी उसका अभिन्न अंग होते हैं, वरन् इन्हीं भूमियों पर कविता सही मायने में कविता बनती है, और संवेदना के धरातल पर अपनी स्थायी पहचान बनाती है। विचार के स्तर पर सगुण भक्तों ने जो भी कहा और प्रतिपादित किया हो, भावबोध के धरातल पर, संवेदना के धरातल पर, चित्रण के धरातल पर वे विचार के स्तर पर अपने कहे हुए से भिन्न, मानव-प्रेम, सामाजिक न्याय तथा उन मूल्यों को ही सामने लाते हैं जो निर्गुण भक्तों का प्रतिपाद्य है। जरूरत इसीलिए सगुण और निर्गुण कविता को उसकी समग्रता में, भीतर तक थाहने और पहचानने की है। इसी क्रम में इन भक्तों और संतों के अंतर्विरोध भी हमारे सामने आते हैं, उनकी शक्ति और सीमा हमारे सामने उद्घाटित होती है। अंतर्विरोधों के बावजूद और उनके बीच से अपनी-अपनी जमीन, अपनी-अपनी शक्ति और सीमाओं के होते हुए भी सामान्यतः अपने समय के लिए, और हमारे समय के लिए भी, भक्ति कविता का, सगुण और निर्गुण भक्ति कविता का महत्वपूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक प्रदेय है। भक्तिकाव्य की ये सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियां इन भक्तों और संतों के, अपने समय और समाज से किए गए साक्षात्कार के क्रम में, उनमें इनके द्वारा किए गए हस्तक्षेप के क्रम में, और इनके अपने गहरे रचनात्मक आत्मसंघर्ष के क्रम में, सामने आई हैं। इन उपलब्धियों के पीछे गहरी और कठोर साधना का एक जीवंत इतिहास है, उसकी अपनी सफलताएं- असफलताएं, असंगतियां और अंतर्विरोध हैं। कुल मिलाकर, वे हमारी मूल्यवान विरासत हैं।

भक्तिकाल और भक्तिकाव्य की चर्चा करने वाले सभी विद्वानों ने उस युग को सामाजिक और सांस्कृतिक संक्रांति का युग माना है जिस युग में निर्गुण संत और सगुण भक्तों की वाणी मुखर हुई और जिसे भक्तिकाव्य कहा जाता है, उसका उद्भव संभव हुआ। इस संक्रांति का मुख्य कारण भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में इस्लामी धर्ममत का आगमन और प्रसार था। इस बात को लेकर आचार्यों में भले मतभेद हों कि भक्तिकाव्य के आविर्भाव के मूल में इस्लाम का क्या और कैसा प्रभाव है, जहां तक चले आ रहे भारतीय समाज का सवाल है यह सब स्वीकार करते हैं कि इस्लाम के आगमन ने उसे एक गहरा धक्का दिया। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में बंटे हुए

विद्यमान भारतीय समाज को एक व्यापक हिन्दू धर्ममत के तले एकजुट होने के लिए विवश होना पड़ा। इस्लाम की ओर से आई सामाजिक-सांस्कृतिक चुनौती को इसी प्रकर झेला जा सकता था और उसका प्रतिकार किया जा सकता था। विशृंखलित होती हुई समाज-व्यवस्था पर भी ध्यान दिया गया और रास्तों की खोज के प्रयास हुए जो भक्ति और अध्यात्म के संदर्भ में जनता के एक बड़े भाग को, बिना किसी भेदभाव के आकर्षित करने और समेटने में सक्षम हों। सामाजिक स्तर पर भेदभाव-विहीन सामाजिक संरचना का सवाल जटिल होने के नाते भले ही विचारणीय न बन पाया हो, परन्तु धर्म तथा भक्ति के अगुवा लोगों ने, आचार्यों और धर्माचार्यों ने कम से कम भक्ति के धरातल पर मनुष्य और मनुष्य में भेद न करने की बात को जरूर उठाया, और युग की अपनी विशेष स्थिति के संदर्भ में वे इस अभियान में बहुत कुछ सफल भी हुए। उनकी इस सफलता को निर्गुण संतों की रचनाशीलता और सोच में लक्ष्य भी किया जा सकता है। निर्गुण संत कविता को अपनी आत्मीयता के दायरे में उसकी पूरी ऊष्मा तथा प्रभाव के साथ स्वीकार न करने वाले आचार्य शुक्ल भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।'

शुक्ल जी ने यह बात मुख्यतः निर्गुण भक्ति की कविता को लक्ष्य करके लिखी है, और इस क्रम में नामदेव और कबीर जैसे संतों का जिक्र विशेष रूप से किया है। हम कह चुके हैं कि निर्गुण संत-कविता से आत्मीय न होते हुए भी उन्होंने उक्त संदर्भ में और उक्त लक्ष्य के तहत, उसके आविर्भाव को उस युग की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक-सामाजिक जरूरत और उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया है। यह निर्गुण कविता अनेक कारणों के चलते कालांतर में पंथबद्ध होकर निष्प्रभावी भले बन गई हो, उसकी ओर जो भी असंगतियां और सीमाएं हों, तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक क्षितिज में

उसका आविर्भाव और उसमें नानक, दादू, कबीर, नामदेव, रैदास जैसे संतों का योगदान एक बड़ी सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धि है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपलब्धि और बड़ी उपलब्धि, वह इसलिए है कि भले ही धर्म और भक्ति के क्षेत्र में ही सही, किन्तु सामाजिक जीवन के बीच पहली बार वर्ग, वर्ण, जाति, नस्ल, धर्म और संप्रदाय के भेदों तथा बंधनों को अमान्य करते हुए मानव-हृदय के एकात्म तथा भक्ति के संदर्भ में मानव-मात्र की समानता को रेखांकित किया गया। यह काम भले ही भक्ति और ईश्वरोपासना के सीमित क्षेत्र में हुआ हो, इसका प्रभाव भेदभाव बरतने वाली चली आ रही सामाजिक संरचना और उस संरचना को उचित ठहराने वाली सोच पर भी पड़ा, उस साधारण जनता पर पड़ा जो सामाजिक भेदभाव का शिकार बनती हुई सदियों से एक अमानवीय जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त थी। स्मरण रहे, हिन्दू-मुस्लिम एकता इन संतों का लक्ष्य नहीं था वरन् भक्ति का एक ऐसा मार्ग निकालना, उसका ऐसा संदेश देना इनका लक्ष्य था, जिस पर किसी भी प्रकार की भेद-बुद्धि से रहित मनुष्य सात्विक अंतःकरण और मन से चल सके, उसे बिना किसी हिचक के सुन और सहेज सके। हम कह चुके हैं सदियों से पीड़ित और कुचली हुई एक विशाल मनुष्यता ने इस रास्ते को अपनाया और इस संदेश को सुना। पहली बार उनमें आत्मगौरव की, मनुष्य होने की भावना जागी। इन संतों ने, विशेषतः नानक और कबीर ने चली आ रही सामाजिक संरचना की, उसके प्रभुओं और मसीहाओं की, उनकी अमानवीयता की, धर्म और मजहब के नाम पर कर्मकाण्डों की, पूजा-पाठ, आराधना और उपासना के खोखले तौर-तरीकों की, वे किसी भी धर्म और मजहब के हों, जम कर भर्त्सना की है, उनकी मखौल उड़ाई है। मनुष्यता के दुःख-दर्दों से द्रवीभूत होकर ही इनकी वाणी मुखर हुई है। यदि वह कहीं कठोर और आक्रामक है तो अमानवीय इरादों के खिलाफ ही, जिन्हें इनकी प्रशस्त मानवीयता किसी सूरत में सहन नहीं कर सकी है। निर्गुण संतों की यह वाणी उस युग के वृहत सामाजिक अन्याय और धार्मिक पाखंड के बीच गूंज सकी, सुनी जा सकी, उसका अनुगमन हो सका, उस युग की महत उपलब्धि होने के साथ-साथ वह हमारी विरासत है। आज, जबकि बीसवीं शताब्दी के इस अंतिम चरण में समाज और धर्म की विनाशक

शक्तियां एक बार फिर से हमारे सदियों के अर्जित उन्नत सामाजिक मूल्यों को क्षत-विक्षत करने पर उतारू हैं. धर्म को पुनः संकरी और संकीर्ण गलियों में ढकेला जा रहा है, उसे विरूप और विद्रूप किया जा रहा है, निर्गुण संतों की यह विरासत हमारी मार्गदर्शक ही नहीं, हमारा वह हथियार भी है जिसके बल पर हम इन समाज और धर्म की विघटनकारी शक्तियों से लोहा ले सकते हैं। कहना न होगा कि लंबे अंतराल के बाद ये संत आज हमारे लिए फिर से प्रासंगिक हो उठे हैं। **प्रासंगिक वे पहले भी थे, परन्तु आज की स्थितियों ने उनकी प्रासंगिकता का न केवल गहरा अहसास हमें कराया है उसे सार्वकालिक भी बना दिया है।**

ऊपर हमने बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण की बात की है। समय का यह वह बिन्दु है जिसे आज हम जी रहे हैं। समाज तथा धर्म को विरूप करने वाली, उसे संकीर्ण अर्थ देने वाली और उनके नाम पर मनुष्य के विनाश का समारोह मनाने वाली जिन शक्तियों का हवाला हमने दिया है, जिन चुनौतियों की बात हमने की है उनसे निपटने के लिए आज 'सेक्यूलरिज्म' के आदर्श की बात की जा रही है। यह 'सेक्यूलरिज्म' शब्द यूरोप के मध्ययुगीन पाखंडों का विरोध करते हुए सामने आया था। हमारे यहां इसका इस्तेमाल भ्रांत अर्थों में किया जा रहा है। या तो इसे धर्म-निरपेक्षता का पर्याय बताया जा रहा है या सर्व धर्म समभाव का। सेकूलर शब्द अपनी 'स्पिरिट' में इन दोनों आशयों का प्रतिकार करता है। **हमारे लिए सेक्यूलरिज्म का यदि कोई अर्थ हो सकता है** तो वही हो सकता है जिसे हम उपर्युक्त संतों की वाणी तथा करनी में पा सकते हैं। **वह अर्थ है, वर्ग, वर्ण, नस्ल, धर्म, जाति या संप्रदायगत भेद-बुद्धि से ऊपर उठकर मनुष्य को सिर्फ मनुष्य के रूप में देखना। इस मानुषसत्य के अलावा सेक्यूलरिज्म और कुछ नहीं है, और इस मानुष सत्य के समर्थ प्रतिनिधि हैं हमारे मध्यकाल के ये संत, जिनकी सही शिनाख्त उनकी मनुष्यता और केवल मनुष्यता है। ये 'ना हिन्दू ना मुसलमान हैं' और इसे वे डंके की चोट पर घोषित करते हैं। इन संतों का यह सेक्यूलर व्यक्तित्व और आचरण मिसाल है हमारे अपने समय के लिए, और उपलब्धि है उस मध्यकाल की, जिसे आज की तथाकथित आधुनिकता के बरक्स हम प्रतिगामी कहते हैं।** इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जो कबीर शताब्दियों पहले एक मानव संस्कृति और एक मनुष्य धर्म की बात करता है,

सामाजिक, धार्मिक पाखण्डों और प्रपंचों के खिलाफ आवाज उठाता है, संघर्ष करता है, उसे हम मध्यकालीन कहते हैं और सामाजिक-धार्मिक भेद-भाव तथा उससे जुड़े तमाम सारे पाखण्डों का आचरण करने वाले, आज के तथाकथित धर्म और समाज के ठेकेदार महज इस नाते आधुनिक हैं कि वे समय के उस बिन्दु पर अपनी कारगुजारियां कर रहे हैं, जिसे आधुनिक समय कहा जाता है। ये मध्यकालीन संत हमें इस बात की प्रेरणा देते हैं, हमारे सामने इस बात की जरूरत को रेखांकित करते हैं कि मध्यकालीन बोध और आधुनिक बोध की पहचान समय के गति चक्र से न होकर विचारधारा, मूल्य-व्यवस्था और उनसे जुड़ी मानसिकता के आधार पर हो।

इस बिन्दु पर कुछ चर्चा हम सगुण भक्तिकाव्य की करना चाहेंगे जो विचार के स्तर पर परम्परागत सामाजिक सोच और सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाता, कृष्ण- भक्तिकाव्य से चलकर राम- भक्तिकाव्य में और भी रूढ़ हुआ दिखाई पड़ता है। इस स्थिति के अपने वस्तुगत कारणों का संकेत हम पीछे कर चुके हैं, विशेषत: तुलसीदास के प्रसंग में। पर हमारा यह कहना भी है कि सोच के धरातल पर भले ही सगुण भक्ति कविता निर्गुण कविता की तुलना में अपने सामाजिक दृष्टिकोण में पिछड़ी हुई हो, संवेदना के धरातल पर वह मनुष्य और उसकी नियति के प्रति कम चिन्ताशील नहीं है। निर्गुण संतों के अपने आंतरिक अंतर्विरोध हैं, जहां तक सगुण भक्तों का सवाल है, उनके अंतर्विरोध का स्वरूप यह है कि जहां और जब भी वे भक्ति-आंदोलन की उदात्त मानवीय चेतना से एकतान हुए हैं वे निर्गुण संतों के समान ही मनुष्य सत्य का उद्घोष करते हैं, मनुष्य के प्रति होने वाले सामाजिक अन्याय का प्रतिवाद करते हैं और महज विचार के धरातल पर ही नहीं, चित्रण के धारातल पर भी अपनी इस उन्नत सोच को अभिव्यक्ति देते हैं, उन सामाजिक और मानवीय मूल्यों की हिमायत करते हैं जिनके पक्ष में निर्गुण संत खड़े हुए थे, किन्तु जब वे भक्ति-आंदोलन की उदात चेतना से अलग उन संस्कारों से बंध जाते हैं जो परंपरा ने, समाज ने, उनकी वंश-परंपरा ने उन्हें दिए हैं, वे परंपरागत सामाजिक सोच के तहत उस व्यवस्था की हिमायत करते हैं जो शास्त्र-सम्मत है, वेद-विहित है। यह द्वन्द्व सगुण भक्त कवियों में, विशेषत: तुलसी में सबसे अधिक मुखर होकर सामने आता है। 'परहित' को सबसे बड़ा धर्म और 'परपीड़ा' को

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS Ph. 2760400 IAS/PCS: 9868448006

सबसे बड़ी 'अधमाई' कहने वाले तुलसी जब धर्म को वेद और शास्त्र से जोड़ते हैं, परपीड़ा पर टिकी हुई परंपरागत समाज व्यवस्था की कुछ संशोधनों के साथ हिमायत करते हैं तो उनकी चेतना के ये दो स्तर साफ उभर आते हैं। फिर भी, तुलसीदास में ऐसा बहुत कुछ है, 'कवितावली' में, 'विनयपत्रिका' में, 'हनुमान बाहुक' में और 'मानस' में भी, और सूरदास में तो बहुत उभरे हुए रूप में, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ मिलाकर, समूचा भक्तिकाव्य प्रशस्त मानवीय सरोकारों का, गहरी मानवीय चिन्ता का, मानव करुणा का, काव्य है। सब कवियों की सामाजिक सोच एक जैसी भले न हो, उसका मूलवर्ती स्वर उदात्त है, वह मनुष्य के, सामाजिक न्याय के पक्ष का काव्य है।

इस भक्तिकाव्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि इसका लोक भाषा में रचा जाना है और इस नाते साधारण जन के साथ इसकी संपृक्ति है। पहली बार कविता जनता की भाषा में जन-मन को संबोधित होती है। जन-मन को संबोधित ही नहीं होती जन-मन को, जनता की अपनी आशाओं-आकांक्षाओं को, उनके जीवन में उतरकर, उसे भली भांति पढ़ते और गुनते हुए, वाणी भी देती है। लोकजीवन के बीच, साधारण जन-मानस के बीच इस भक्तिकाव्य की जो लोकप्रियता है उसका एक बड़ा कारण उसका लोक की अपनी भाषा में लिखा जाना है। लोक की अपनी भाषा में इसका लिखा जाना इस नाते भी महत्वपूर्ण है कि वह आगामी रचनाशीलता के लिए इस बात में एक मिसाल बनता है कि जनता की अपनी जबान में रची गई कविता ही जनता के दिल-दिमाग को जीत सकती है, बशर्ते वह उस जनता की आकांक्षाओं से जुड़ी हो। लोक जीवन तथा जनता से जुड़ने की बातें सब करते हैं, लोक के हृदय और जनता की अपनी बोली-बानी का प्रतिनिधि होने का दावा भी सब करते हैं, किन्तु लोक की अपनी बोली बानी में, लोक की अपनी आशाओं-आकांक्षाओं को, लोक हृदय में उतर कर मूर्त कितने कर पाते हैं, यह कहने की बात नहीं है। ये भक्त और संत मानक हैं आज की उस रचनाशीलता के लिए, और रचनाकारों के लिए, जो वस्तुतः साधारण जन के हित में प्रतिश्रुत है। जनता के दिल-दिमाग में गहरे उतरना और सदियों के अंतराल के बावजूद स्थायी बने रहना इन संतों और भक्तों की अपनी रचना की बहुत बड़ी उपलब्धि है। यह केवल धर्म और भक्ति का जादू या नशा ही नहीं है, जनमानस की उनकी गहरी पहचान और उससे उनका एकात्म है

जिसके चलते अपनी बात को वे बिना किन्हीं चमत्कारों का सहारा लिए सरल, किन्तु प्रभावी ढंग से, कह सके हैं। उनके पाठकों का दायरा भी इतना बड़ा है कि शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध सब उसमें आ गए हैं, अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी ग्राहकता के साथ, अपने-अपने प्रयोजनों को पाते हुए। उनकी वाणी भले ही भक्ति की हो, उनका साध्य भी भले ही भक्ति हो, वह जितनी ही भक्त-वाणी है, उतनी ही कविता, सरल किन्तु बेधक, गहन अनुभूतियों वाली और पारदर्शी। ऐसी कविता ही कालजयी कहलाती है। अपने समय के लिए तो वह महत्वपूर्ण होती ही है, आगे के समयों के लिए भी उतनी ही अर्थवान, उतनी ही प्रासंगिक होती है।

वह क्योंकर हमारी इतनी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर है ? हम कह चुके हैं कि कविता महज विचार नहीं होती, उसका संसार बुनियादी तौर पर इंद्रियबोध और भावों का संसार है। विचार इनकी संश्लिष्टता में ही कविता में आ सकते हैं। महान रचनाओं में तीनों तत्वों की संश्लिष्टता ही महानता की कसौटी बनती है। जहां तक भक्ति कविता का संसार है, निर्गुण संतों की वाणी कविता की दृष्टि से मानक नहीं है। शुक्ल जी के मत में तो वह कविता ही नहीं है, परंतु यदि वह कविता है, तो विचार-बहुल कविता। भक्ति के धरातल पर ही वह अपने कविता होने का प्रमाण देती है, जहां भक्ति की प्रगाढ़ अनुभूति को बड़े पारदर्शी तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। इससे इतर वह काव्य तत्व में दुर्बल है। फिर उसका संसार भी सीमित संसार है, महज भक्ति के दायरे में बंधा हुआ। उसकी तुलना में मलिक मुहम्मद जायसी तथा सगुण भक्तों की कविता अपनी संपूर्णता में महत् कविता के रूप में अपना परिचय देती हैं। इन कवियों के बारे में हम पहले ही कह चुके हैं। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि मनुष्य के इंद्रियबोध और भावजगत की समर्थतम अभिव्यक्ति हमें इस काव्य में मिलती है, वह मीरा का हो, जायसी का हो, सूर या तुलसी का हो। मनुष्य के मन में गहराई तक ये भक्त प्रवेश कर सके हैं और उसे उद्घाटित कर सके हैं। मनुष्य के दुख-सुख हों अथवा इनका आत्मनिवेदन, आख्यानक तथा मुक्तक दोनों ही काव्य-प्रकारों में इन भक्त-कवियों ने मानव-मन को गहराई तक जाकर छुआ और उजागर किया है। यह कविता जीवन से जुड़ी हुई कविता है, मनुष्य के राग की कविता है। जीवन के समूचे प्रसार में फैली वह हमारे समक्ष संसार के सौन्दर्य को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध

के ऐन्द्रिय अनुभवों को, उनकी संपूर्णता में खोलती है। वह उन्नत मानवीय बोध की कविता के रूप में हमें अपनी पहचान कराती है। भक्ति के आवरण के बावजूद वह हमें मनुष्य और जीवन के सारभूत सत्य से परिचित कराती है। वह जन-मन की आकांक्षाओं को, लोक-जीवन के बहुआयामी सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली, संपूर्ण और मुकम्मिल कविता है। उसकी महत्ता और उसके प्रभाव को इस बात से भी जाना जा सकता है कि वह अपने समय का अतिक्रमण कर हमारे अपने समय के महाकवियों का आदर्श बनी है, उन्हें प्रेरणा दे सकी है। भक्ति की यह कविता वस्तुतः, जैसा कि हमने कहा, मानवीय चिन्ता की कविता है। भक्तों के सामाजिक आदर्श भले भिन्न हो, वह उन्नत सामाजिक मूल्यों की कविता है। वह हमारे सामाजिक सम्बन्धों, पारिवारिक नाते-रिश्तों को एक मूल्य-व्यवस्था देने वाली कविता है। ये मूल्य बदले हुए समय में उसके साथ पूरी तरह भले न अंट पाएं, इन भक्तों और संतों की सामाजिक चिंता के परिचायक जरूर हैं।

आचार्य द्विवेदी ने निर्गुण और सगुण भक्ति कविता में भिन्नताओं के बीच कतिपय ऐसे तत्वों को उभारा है जहां उनमें कोई भेद नहीं है। इन तत्वों में एक संतों और भक्तों का यह समान विश्वास है कि प्रेम से बढ़कर और कोई पुरुषार्थ नहीं है। प्रेम सभी संतों और भक्तों का केन्द्रवर्ती स्वर रहा है। इस प्रेम के समक्ष मनुष्य और मनुष्य के बीच के सारे भेद नगण्य हैं। यह वह तार है जो भेदों का अतिक्रमण करता हुआ मनुष्य मात्र के हृदयों के बीच से उन्हें एक सूत्र में गूंथता हुआ गया है। भेद बुद्धि के विसर्जन के बाद ही इसकी उपलब्धि हो सकती है, अहं को भस्म करके ही उसे पाया जा सकता है। उसे पा लेना ईश्वर को पा लेना है इसे सभी संतों और भक्तों ने बार-बार दुहराया है। कबीर जब कहते हैं कि यह प्रेम किसी बाग-बगीचे या खेत में नहीं पैदा होता, न ही यह बाजार में बिकता है, राजा हो या प्रजा, कोई भी इसे पा सकता है, शर्त यही है कि अपना शीश काटकर पहले जमीन पर रख देना होगा, तो वे वस्तुतः इस प्रेम को ईश्वर के समकक्ष ही घोषित कर रहे होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के यहां भी उनके राम को यदि कुछ भी प्रिय है, तो यह प्रेम ही है जिसमें अनन्यता है, समर्पण है, समस्त भेद-बुद्धि का त्याग है। जो प्राणि-मात्र तक व्याप्त है। मीरा इस प्रेम को लेकर ही बावली रहीं और उससे उपजे दर्द को दूर-दूर भटकते हुए सबको बांटती फिरीं। (मानुष प्रेम भयेउ बैकुण्ठी) ये संत

और भक्त बराबर इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ईश्वर से या आराध्य से एकात्म और एकतान होने के लिए जरूरी है कि पहले मनुष्य-मनुष्य से प्रेम करे। मानव-प्रेम की बुनियाद पर ही वह इमारत खड़ी होगी जिसके भीतर पहुंच कर आराध्य का दीदार हो सकेगा। धर्म और अध्यात्म के आवरण में कही गई ये बातें संतों और भक्तों की उस मानवीय चिन्ता की उपज हैं जो समूची मनुष्यता को प्रेम के मजबूत धागे से बंधी देखना चाहती थीं। जब संसार और समाज में सर्वत्र विग्रह की स्थितियां व्याप्त हों, चारों ओर हिंसा, घृणा, विनाश और रक्तपात के नजारे दिख रहे हों, प्रेम की बुनियाद पर, मनुष्य-प्रेम की बुनियाद पर, टिकी संतों और भक्तों की वाणीका मूल्य और महत्व क्या हो सकता है, यह कहने की बात नहीं।

भक्ति कविता की, वह संतों की हो अथवा भक्तों की, एक बुनियादी विशेषता उसकी यह दृढ़ स्वीकृति है कि संसार असार या मिथ्या नहीं है और ना ही उसके सुख-दुख असार या मिथ्या हैं। ये संत भले ही अनहद नाद सुनते हों, भले ही शून्य में समाधि लगाते हों, और ये भक्त भले ही नित्य वृन्दावन में रमते हों, कल्पना के रामराज्य में विचरते हों, संसार और उसके रहने वालों के सुख-दुख से कभी विरत नहीं हुए हैं। इनकी भक्ति वैराग्य-मूलक भक्ति नहीं है, वह राग-तत्व को लेकर पल्लवित होने वाली भक्ति है। संसार और समाज, घर और परिवार के सारे नाते-रिश्ते उसमें स्वीकृत हैं। इन्होंने बार-बार इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि इस भक्ति को पाने के लिए और इसके माध्यम से आराध्य तक पहुंचने के लिए वैरागी बनने, घर परिवार छोड़ने या संसार और समाज से नाता तोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। ठेठ संसार के बीच रहते हुए, अपने सारे सांसारिक-सामाजिक और पारिवारिक दायित्व निभाते हुए कर्म करते हुए मनुष्य इस भक्ति का अधिकारी हो सकता है, ईश्वर को पा सकता है। गोस्वामी जी की भक्ति का विवेचन करते हुए शुक्ल जी का कहना है कि राम के यहां का रास्ता ठेठ जीवन के भीतर से गया है। इन संतों और भक्तों ने जो यह सब प्रतिपादित किया है उसे स्वयं आचरित भी किया है। कर्म-प्रधान विश्व से भागकर, दायित्वों से विमुख होकर, भभूत लगाकर, घर-बार छोड़कर की जाने वाली भक्ति छद्म और दिखावा है। जीवन के भीतर से, संसार और समाज के सारे दायित्वों के बीच से, कर्ममय, कर्मठ जीवन की

संपूर्ण स्वीकृति के साथ उपजी भक्ति-सम्बन्धी इस सोच ने अपने समय और समाज में जो अपनी सकारात्मक-रचनात्मक भूमिका का निर्वाह किया है, वह आगे के समय में भी एक आदर्श के रूप में मान्य हुई, इसे इन संतों और भक्तों की, समाज को एक सराहनीय देन ही माना जाएगा।

इस कविता का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम लोक संस्कृति का उद्घाटन है। लोक संस्कृति का उद्घाटन ये भक्त इसीलिए कर सके हैं कि ये स्वतः उस संस्कृति की उपज थे। इनकी संवेदना मूलतः किसान संवेदना है। अवध की लोक-संस्कृति जहां तुलसीदास और जायसी में अपनी सारी विशेषताओं के साथ मूर्त हुई है, वहां सूरदास में ब्रज प्रदेश की लोक-संस्कृति अपनी सारी मधुरता के साथ विद्यमान है। मीरा के पदों में राजस्थान की लोक-संस्कृति के स्वर गूंजे हैं और उनके अपने दर्द में घुलमिल गए हैं। लोक जीवन के चित्रों के अलावा इन भक्त कवियों की भाषा में भी लोक मन की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इनके पदों में लोकगीतों की-सी मिठास है, इनके छंदों और इनके काव्य-रूपों को लोक मन से सहज नाता रिश्ता है। लोक की परिचित और आकांक्षित शैली में रची उनकी कविता इसी नाते लोक-चित्त से नहीं उतरी है, उसमें नक्श सी हो गई है।

इसे एक महत्वपूर्ण घटना ही कहा जाएगा कि युग की विशिष्ट वस्तुगत स्थितियों के संदर्भ में मध्यकाल के एक खास दौर में हमें उन वर्गों और वर्णों से प्रथम कोटि के संत मिले जिन्हें शूद्र और अंत्यज कहा जाता था। ऐसा फिर आगे कभी नहीं हो सका। हमें भक्ति-कविता के अंतर्गत नारी-भक्तों की एक जमात मिली, जैसा कि उस युग के लिए सहज न था। यही नहीं, समूचे भक्ति-काल में इतने कालजयी कवियों-भक्तों का एक साथ आविर्भाव अपने में कम आश्चर्यजनक नहीं है। यह सब खास भक्तियुग की विशेषता है। ये वे रचनाकार भक्त हैं जो सदियों से भारतीय जनमानस में विद्यमान हैं, अपनी रचनाशीलता के बूते पर। इनकी आस्था, इनका स्वाभिमान, इनका लोक की जड़ों से जुड़ना, यह सब हमारे लिए, आज के लिए, मिसाल है। मानव जीवन के सारे पक्षों पर इन्होंने लिखा, जीवन के सारे कार्यव्यापार इनके लेखन की परिधि में आए। व्यक्ति, परिवार, समाज, सबके अंतरंग को इन्होंने देखा और उनका मार्गदर्शन किया। प्रेम को अपना आदर्श मानते हुए इन्होंने समाज के समक्ष उसकी शक्ति को

उजागर किया। प्रेम का ही तत्व है जहां सगुण निर्गुण सब समर्पित है। यह प्रेम नाना-भूमियों में, नाना मनोदशाओं में, इनकी अधिव्यक्ति का विषय बना है। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संक्रांति के युग में प्रेम के इनके संदेश ने बहुत से घावों को भरा, सामाजिक जीवन में अपनी सकारात्मक भूमिका अदा की। ये नि:स्पृह भक्त थे, जिन्हें राजसत्ता या समाज-सत्ता किसी का भी, कोई भी प्रलोभन सर्वथा अमान्य था। अपने आराध्य के प्रति संपूर्ण समर्पित इनका सरोकार सिर्फ साधारण जनता और उसके जीवन से था। उसी को उन्नत बनाने में ये लगे रहे। इसी नाते ये उसके द्वारा स्वीकार हुए और सराहे गए।

भक्ति काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों का यह एक संक्षिप्त विवेचन है। रचना वही महत्वपूर्ण होती है जो अपने समय के लिए तो जरूरी हो ही, आने वाले समय के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक हो। भक्ति-कविता ऐसी ही कविता है, जो अपने समय में तो महत्वपूर्ण थी ही, आज के समय के लिए भी अर्थवान है। वह हमारी ऐसी विरासत है, जिसे हमें कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना है, और संरक्षण देना है।

-000-

भक्तिकाल का रीतिकाल में रूपांतरण

भक्ति–काव्य के अवसान के कुछ कारणों की तलाश की जा सकती है। भक्ति–आंदोलन सामंतवाद की बढ़ती हुई शक्ति और उसके प्रभावों की भेंट चढ़ा। यह प्रभाव था – भोग–विलास और श्रृंगारिकता। भक्ति काव्य में श्रृंगार का तत्व पहले से ही बहुत प्रबल था।

उस श्रृंगार के केन्द्र में ईश्वर था। कालांतर में श्रृंगार या प्रेम भोगपरक होता गया और भक्ति के आध्यात्मिक प्रसंगों और अनुभवों को हटाकर जीवन और कविता की मूल वस्तु बन गया। मार्क्सवाद के एक बहुत संवेदनशील विचारक मुक्तिबोध ने भक्ति काव्य के अवसान के कारणों की बहुत विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि भक्ति आन्दोलन निम्न वर्णों के द्वारा शुरू हुआ था। कालांतर में इस भक्ति आन्दोलन का सवर्णों द्वारा अपहरण किया गया। सवर्णों के द्वारा अपहरण कर लिये जाने के कारण भक्ति आंदोलन की ऊर्जा और उसकी मानवीय दिशा दिग्भ्रमित हो गई।

एक अन्य कारण यह कहा जा सकता है कि किसी भी आन्दोलन या जीवन दृष्टि की एक उम्र होती है। यह इतिहास की नियतिवादी व्याख्या है। स्पेंगलर ने 'डिक्लाइन आफ द वैस्ट' में कहा है कि आंदोलन, संस्कृति और सभ्यता लहर की तरह होते हैं। एक लहर अपनी समूची ऊंचाई प्राप्त करने के बाद ढल जाती है, फिर दूसरी लहर आती है। यह क्रम चलता रहता है। इतिहास लहरों का क्रम है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिन मूल्यों को लेकर भक्ति काव्य की लहर उठी उसने अपनी भूमिका निभाने के बाद इतिहास की दूसरी शक्ति को स्थान दिया। धीरे धीरे भक्तिकाल के अंतिम दिनों में श्रृंगारिकता प्रबल हुई और मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कथा में भी रसिकता का प्रवेश हुआ। इसलिए संघर्ष का रास्ता छोड़ कर राम भी अनेक प्रकार की श्रृंगारिक गतिविधियों में संलिप्त दिखाए गए।

रीति का अभिप्राय

भारतीय काव्य शास्त्र में रीति एक सम्प्रदाय है जिसके संस्थापक नवीं शताब्दी के आचार्य वामन हैं। वामन ने रीति शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि रीति 'विशिष्ट पद–रचना' है। पद का अर्थ यहां कविता नहीं है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द को पद कहते हैं। शब्द और पद में व्याकरण की दृष्टि से यह फर्क है कि शब्द जब स्वतंत्र रहता है तब उसे शब्द कहेंगे। लेकिन जैसे ही वह

वाक्य के भीतर आयेगा और व्याकरण की नियति से अनुशासित होने लगेगा वैसे ही वह पद बन जाएगा।

अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार–सूत्र' में वामन ने दो अत्यंत चर्चित स्थापनाएं दीं, पहली **'रीतिरात्माकाव्यास्य'** अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है। दूसरी, विशिष्ट पद–रचना रीति है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय की स्थापना के द्वारा वामन ने कविता की सार्थकता और कविता की अर्थवत्ता के केन्द्र में उसे स्थापित किया, लेकिन वामन से पूर्व रीति शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता था। जैसे धारा, गति, परम्परा, प्रवृत्ति आदि अर्थों में।

हिन्दी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रीति का प्रयोग मार्ग के संदर्भ में किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, कुन्तक और भोज का नाम मुख्य है। मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का अर्थ किया काव्य–संघटन।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि रीति अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट प्रणाली है जो अनुभव की गति के स्थान पर पद्धति की व्यवस्था को महत्व देती है। अगर हम भक्ति काव्य के संदर्भ में देखें तो भक्ति काव्य कविता की पद्धति के प्रति नहीं बल्कि कवि के अनुभव के प्रति उत्तरदायी है, जबकि रीतिकाल की कविता पद्धति को महत्व देती है। मानवीय अनुभव से निरपेक्ष रह कर रीतिकालीन कवियों ने कविता को साहित्य के रूप में नहीं बल्कि कला के रूप में विकसित किया।

उत्कर्ष क्लासेज IAS/PCS

रीतिकाल की काव्य–धाराएं

रीतिकाल के काव्य को तीन धाराओं में रखा गया है। पहली धारा है रीतिबद्ध, दूसरी है रीतिसिद्ध और तीसरी है रीतिमुक्त अथवा रीति स्वच्छंद।

रीतिबद्ध कविता शास्त्र का उल्लेख भी करती है और शास्त्र के अनुसार काव्य की रचना भी। लक्षण–लक्ष्य ग्रंथ की परम्परा का सूत्रपात रीतिबद्ध काव्यधारा में होता है। जैसे नायिका–भेद में कामशास्त्र में जिन नायिकाओं की चर्चा की गई है, रीतिबद्ध कवि पहले उसे परिभाषित करेगा फिर उन शर्तों के उदाहरण और प्रमाण के लिए कविता की रचना भी करेगा। रीतिबद्ध कवि कवि भी हैं और आचार्य भी हैं। आचार्य के रूप में वे शास्त्र के ज्ञाता हैं और कवि के रूप में कविता के रचयिता। शास्त्रीयता और काव्यात्मकता का एक अपूर्व संगम रीतिबद्ध काव्यधारा में दिखाई देता है।

इस धारा के महत्त्वपूर्ण कवियों में **केशवदास, चिंतामणि, भिखारीदास, मतिराम, देव और पद्माकर** का नाम आदर के साथ लिया जाता है। दूसरी धारा है रीतिसिद्ध।

रीतिसिद्ध वह काव्यधारा है जिसकी रचना में नियमों का अलग से उल्लेख नहीं होता बल्कि जहां नियम उदाहरण में ही समाए हुए होते हैं। इसलिए रीति को जहां सिद्ध कर लिया गया है उसे रीतिसिद्ध कहा जाता है। इस धारा के शिखर कवि हैं **बिहारी**।

तीसरी धारा है **रीतिमुक्त काव्यधारा** या रीति स्वच्छंद काव्यधारा। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की काव्य रचना का मूल स्रोत शास्त्र है। रीतिमुक्त अथवा रीति स्वच्छंद धारा के कवियों की कविता का स्रोत है अनुभव। स्रोत का केन्द्र बदल जाने के कारण कविता की प्रकृति बदल जाती है। रीतिमुक्त इसलिए कहा गया है कि स्रोत के स्तर पर रीतिमुक्त कविता अपने क्षेत्र को अलग कर लेती है। रीतिमुक्त कवियों ने बेहद प्रखरता और आक्रामकता के साथ रीतिबद्ध और सिद्ध दोनों कवियों पर आरोप लगाया कि इन लोगों ने कविता को खिलवाड़ के रूप में परिवर्तित कर दिया है। कविता खिलवाड़ नहीं है बल्कि वह एक गंभीर जवाबदेही है, वह आदमी की परिस्थितियों और कला के बीच एक रिश्ता है। शब्द को एक मदारी की तरह नहीं बल्कि प्रामाणिक और दायित्वशील मनुष्य की तरह कवि धारण करता है। रीतिमुक्त कवियों ने कवि कर्म के प्रति एक बेहद गंभीर रुख अपनाया।

IAS/PCS

रीतिबद्धता और रीतिसिद्धता से मुक्त होने के बावजूद भी इन्हें रीतिकाल में ही रखा गया। इसके तीन कारण हैं। पहला कारण यह है कि रीतिस्वच्छंद कवियों का मूल विषय भी शृंगार है। अतः कविता की अन्तर्वस्तु वही है जो रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों की है। दूसरा, संगठन के स्तर पर कोई परिवर्तन नहीं है। इन्होंने भी ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। इसलिए कविता की अन्तर्वस्तु, कविता की बनावट और कविता की भाषा के स्तर पर समानता के कारण रीतिमुक्त कवियों को रीतिकाल का ही एक हिस्सा माना गया है। लेकिन मुक्त इसलिए हैं क्योंकि वे उस ढांचे को अस्वीकार कर देते हैं जिस ढांचे को रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के द्वारा अंतिम और प्रामाणिक मान लिया गया था।

रीतिकाल का पहला कवि

रीतिकाल के पहले कवि को लेकर विवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में रीतिकाल का प्रकरण इसी विवाद से शुरू करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कालक्रम की दृष्टि से केशवदास वरिष्ठ हैं लेकिन वे केशवदास को रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय नहीं देते। उनकी मान्यता है कि रीतिकाव्य की शुरूआत चिंतामणि से होती है। उन्होंने कारण यह बताया कि केशवदास और चिंतामणि के बीच में लगभग 60–65 वर्षों का अन्तराल है। केशवदास में रीतिकाव्य के पर्याप्त तत्व तो हैं लेकिन उनसे कोई परम्परा नहीं फूटती। जिस कवि से रीति परम्परा का सीधा रिश्ता जुड़ता है वे चिंतामणि हैं। इसलिए अखण्ड परम्परा चलाने की दृष्टि के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिंतामणि को, जिनका समय 1643 ई0 के आसपास है, रीतिकाल का प्रवर्तक कहा है। केशव का समय 1555 से 1617 के बीच में है।

लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापना से असहमति व्यक्त की गई है और केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्तक कवि अनेक तर्कों के आधार पर माना गया है। कई काव्यशास्त्रीय पक्षों और प्रबंध तथा मुक्तक शैलियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण तथा भक्ति से कविता को रीति में रूपांतरित करने के आधार पर अधिकतर शुक्लोत्तर विद्वानों ने रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय केशवदास को दिया है। केशव वह कवि हैं जो हिन्दी कविता को दरबार में ले गये। इनसे पहले कोई दरबारी कवि नहीं है। इसलिए कविता को दरबार से जोड़ने, कविता में रीतिबद्धता पैदा करने और रीतिकाल की जितनी महत्वपूर्ण प्रवृतियां हो सकती हैं उन सभी का प्रतिनिधित्व करने के कारण कालांतर में स्वीकृति यह है कि केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक कवि हैं।

रीतिकाव्य की विशेषताएं

हिन्दी कविता की विकास प्रक्रिया में सतरहवीं शताब्दी के मध्य तक आते–आते भक्ति का आवेश कम होने लगा और धीरे–धीरे, देह और जगत का निषेध करने वाली तथा सामाजिक मर्यादा का वहन करने वाली महान भक्ति काव्यधारा के बाद, कविता देह और काम की दुनिया में चली गई। विद्वानों ने इस काव्यधारा को सामान्यतः रीतिकाल की संज्ञा दी है। शास्त्र और राज दरबार के दबाव में रची जाने वाली इस रीतिकाल की निम्नांकित विशेषताएं लक्षित होती हैं –

1. काव्यत्व और आचार्यत्व का मिश्रण:

शास्त्र और रचना में एक समानांतर पार्थक्य रहा है। लेकिन रीतिकाल में शास्त्रीयता और रचनात्मकता का यह समानांतर पार्थक्य खत्म हो जाता है और कविता और शास्त्र एक ही व्यक्ति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। केशवदास, चिंतामणि, भिखारीदास और पद्माकर जैसे रचनाकारों की मूल चिंता संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों के आधार पर रचना करना और उस शास्त्र को लोकभाषा में रूपांतरित करना है। इसलिए इन कवियों को आचार्य कवि भी कहा गया है।

इस विशेषता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है। देव की उक्ति है –

'रसनि सार सिंगार रस प्रेम सार सिंगार।'

रीतिकाल में शास्त्र और रचनात्मकता का अपूर्व अन्तर्लयन दिखाई देता है। आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी जैसे विद्वानों की धारणा है कि ये मूलतः रचनाधर्मी थे। आचार्यत्व उनके समय और आजीविका की मांग से उत्पन्न हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा को लोकभाषा में रूपांतरित किया लेकिन उनका योगदान उनकी रचनात्मक कृतियां ही हैं।

2. अन्तर्वस्तु के रूप में शृंगार का चयन:

शृंगारिकता रीतिकाल की केन्द्रीय धारा है। शृंगारिकता की यह चेतना रीतिकाल में सामंती परिवेश और शास्त्र द्वारा समर्थित है। शृंगार के अन्तर्गत रीति कवियों ने प्रेम के अनेक रूपों, हाव–भावों एवं चेष्टाओं का वर्णन किया है। रीतिकाल की शृंगारिकता में कामशास्त्र, नायिका–भेद और गार्हस्थिक संबंधों की दिनचर्या का फुलाव है। शृंगार के दोनों ही पक्षों की विस्तृत चर्चा कविता और शास्त्र को मिलाकर रीति कवियों ने की है।

संयोग के अंतर्गत मिलन के नाना चित्रों एवं अनुभवों के साथ इन कवियों ने काव्यशास्त्र में वर्णित विरह के सभी प्रकारों का निर्वाह भी अपनी कविता में किया है।

3. आलंकारिकता के प्रति अत्यधिक सजगता:

रीतिकाल में कविता कवि का लक्ष्य हो गई क्योंकि वह इस काल में रचनाकार की आजीविका का आधार बनी। सामंती बाजार तंत्र में कविता एक वस्तु के रूप में परिणत हुई। इसलिए कविता की अन्तर्वस्तु की तुलना में उसका रूप महत्वपूर्ण हो गया। रूप का सीधा संबंध

अलंकृति से है, इसलिए कवियों ने अलंकार को कविता के शोभाकारक धर्म के रूप में नहीं बल्कि उसमें चमत्कार और चकाचौंध उत्पन्न करने के लिए अपनाना।

यद्यपि रीतिकाल में शब्दालंकारों के प्रति अत्यधिक मोह दिखाई पड़ता है लेकिन अर्थालंकारों के प्रति भी इनकी आसक्ति कम नहीं है। बिहारी का निम्नांकित दोहा श्लेष का उपयुक्त उदाहरण है –

कनक–कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
ऐहि पाय बौराय जग, उहि खाय बौराय।।

वस्तुतः अलंकरण रीतिकाव्य की एक शक्ति भी है और सीमा भी। जहां भी कवि ने अलंकारों के माध्यम से कविता में गति और चित्र उत्पन्न करने की कोशिश की है वहां कविता का प्रभाव बढ़ा है, लेकिन भावपूर्ण प्रसंगों में अलंकारों के अनावश्यक प्रयोग से कविता की प्रभावान्विति क्षतिग्रस्त भी हुई है।

4. चित्रात्मकता और नाद सौंदर्य:

सामाजिकता और कविता के रिश्ते को लेकर रीतिकाव्य आधुनिक हिन्दी आलोचना का कोप पात्र रहा है, लेकिन प्रायः सभी आलोचकों ने उसकी चित्रात्मकता के महत्व को स्वीकार किया है। चित्रात्मकता रीतिकाव्य की अनेक सीमाओं के बीच एक ऐसी शक्ति है जो उसे समाज और उसकी रूचियों में परिवर्तन के बावजूद उसके वजूद को जीवित रखती है। रीतिकाव्य में सिर्फ दृश्य बिम्बों की ही नहीं बल्कि ध्वनि और घ्राण बिंबों की भी अद्भुत सृष्टि की गई है। उदाहरणार्थ –

'छाजति छबीली छिति छहर–छरा को छोड़
भोर उठि आनी केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सो एक देहरी पर धरै
एक करकंज एक कर है किवार पर।।

5. प्रकृति–चित्रण:

रीतिकवियों का प्रकृति–चित्रण सामान्यतः उद्दीपन–विभाव के रूप में ही हुआ। बादल, चाँदनी, मलय–समीर, नदी और वसन्त जैसे प्राकृतिक उपादानों को रीति कवियों ने अपना विषय

बनाया है। रीतिकाव्य में प्रकृति सामान्यतः प्रेम–व्यापारों के प्रसंग में ही चित्रित की गई है, इसलिए अपवादों को छोड़कर इन कविताओं में प्रकृति का स्वतंत्र व्यक्तित्व विलुप्त हो गया है।

6. भाव–सौंदर्य के प्रसंगों की मार्मिक पहचानः

यह सामान्य धारणा रही है कि रीतिकालीन कवि अभिव्यक्ति के चमत्कार में ही अपनी सम्पूर्ण रचनात्मक ऊर्जा का प्रयोग करता है और इस प्रक्रिया में अनुभूति की मार्मिकता उसकी दृष्टि से ओझल हो जाती है। लेकिन सम्पूर्ण रीतिकाव्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह धारणा एकांगी है। शास्त्र और परम्परा का अनुपालन करते हुए भी इन कवियों ने अपने काव्य में अनुभव की मार्मिकता को कलात्मक उत्कृष्टता के आविष्टन में व्यक्त किया। विरह, सौन्दर्य या मिलन के अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जो इस काल के कवि की सहृदयता एवं अनुभूतिशीलता का ठोस प्रमाण देते हैं।

7. प्रेमानुभूति की मांसलता:

प्रेम रीतिकाव्य का केन्द्रीय विषय है। लेकिन सामंती वातावरण के दबाव और रूचियों के कारण इन कवियों ने प्रेम के नितांत दैहिक और उत्तेजक प्रसंगों एवं चित्रों को ही अपनी कविता में व्यक्त किया। आचार्य द्विवेदी की यह धारणा उचित प्रतीत होती है – "यह प्रेम शुरू से अंत तक महत्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभावों से प्रायः अस्पष्ट, पिंड–नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेम–व्यंजना से परिलक्षित है।"

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष 00.IAS/PCS.UPPSC

8. शृंगार और भक्ति का गठजोड़:

रीतिकाव्य, भक्तिकाव्य का उत्तराधिकारी है, इसलिए अनिवार्यतः उसमें भक्ति के तत्व विद्यमान हैं। शृंगार रीतिकाव्य का मुख्य उपजीव्य है लेकिन उसके साथ–साथ इस काल के कवियों ने राधा–कृष्ण के बहाने अपनी भक्ति–भावना को भी स्थान दिया है। विद्वानों की धारणा है कि भक्ति रीतिकवियों का बहाना है। रीति कवि भक्ति भावना को गंभीर, प्रगाढ़ और आंतरिक रूप से अपनाने में समर्थ नहीं हो सका है।

9. वीरता और राज प्रशस्ति तथा नीतिः

रीतिकाव्य के कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाता की वीरता का भी प्रभावपूर्ण अंकन किया है। भूषण इस वीरगाथात्मक परम्परा के मूर्धन्य कवि हैं। भूषण का 'शिवराज भूषण' और पद्माकर का

'हिम्मतबहादुर विरुदावली' रीतिकाव्य परम्परा में वीर–भावना की अभिव्यक्ति की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। इस दृष्टि से भूषण की निम्नांकित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं –

'इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर
त्यों मलेच्छ वंश पर सेर सिवराज है।'

किन्तु वीरता रीतिकाल के कवि की एक आर्थिक जरूरत है क्योंकि इसके चित्रण के द्वारा कवि न सिर्फ अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करता है बल्कि वह अपनी रचना के द्वारा अपार धन को भी प्राप्त करता है।

वीरता के साथ इस काल में कुछ कवियों ने नीति संबंधी रचनाएं भी कीं। रहीम और वृन्द ये दो महत्वपूर्ण कवि सही मायनों में नीतिकाव्य के समर्थ रचनाकार हैं क्योंकि इनके नीति–वचनों में जीवन का गहरा अनुभव समाहित है। इस संदर्भ में रहीम का यह दोहा द्रष्टव्य है –

'रहिमन चुप है बैठिए, जानि दिनन के फेर।
जब अच्छे दिन आएंगे, बनत न लगिहे देर।'

10. काव्य–संगठन:

रीतिकाल की कविता आधुनिक आलोचना की शब्दावली में शुद्ध कलात्मक कविता है इसलिए इस कविता में कलात्मक कसाव और अभिव्यक्ति की लाघवता का अपूर्व मेल है। आधुनिक चिंतक–आलोचक विजयदेव नारायण साही की यह धारणा विचारणीय है कि 'रीतिकाल की कविता आज के पाठकों को चाहे कुछ न दे लेकिन वह आज के रचनाकारों को कहने के सलीके का ज्ञान और संस्कार दे सकती है।'

रीतिकाव्य की भाषा में ब्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी और देशज शब्दों का भी भरपूर इस्तेमाल हुआ है। उस समय दरबारों की शिष्ट भाषा में अरबी फारसी के शब्दों का प्रचलन बढ़ गया था और यह स्वाभाविक ही है कि ये कवि अपने परिवेश में प्रचलित भाषा का प्रयोग अपने काव्य में करें।

नाद और चित्र रीतिकालीन भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है जो इस कविता को सहज ग्राह्य और लोकप्रिय बनाती है।

काव्य–शैली के रूप में इन कवियों ने मुक्तक को ही अपनाया है। दोहा, सवैया और कवित्त इस काल के प्रधान छंद हैं तथा गौण रूप से रोला, सोरठा, बरवै और छप्पय आदि का भी प्रयोग हुआ है। सवैया रीतिकाल का मधुरतम छंद है। देव, मतिराम, पद्माकर इत्यादि कवियों ने सवैयों में वर्णनात्मकता और नीतितत्व दोनों का सुन्दर समावेश हुआ है।

रीतिकाव्य हिन्दी काव्य–परम्परा का एक स्वाभाविक चरण था। भक्ति आंदोलन से उपजे महान भक्ति काव्य के उतार पर इस कविता का उन्मेष हुआ था। यह कविता भक्तिकाल के क्रोड़ में क्षयग्रस्त सामंती रसिकता के बीज का ही पल्लवन है। निष्क्रिय और निश्चिंत सामंती परिवेश के चंदन–परिवेश में उगने वाली यह कविता देह–उत्सवों एवं रूपासक्ति के जादू से अभिमंत्रित है। अपनी सीमित विषयवस्तु एवं तत्कालीन समाज एवं इतिहास के प्रति उदासीनता के कारण आधुनिक हिन्दी आलोचना में इस कविता का घोर तिरस्कार हुआ। द्विवेदी युग की नैतिक दृष्टि ने इस कविता को फूहड़ता और अश्लीलता के खाते में डाला और प्रगतिशील आलोचना ने इसे बुर्जुवा–संस्कृति की बीमार रचना के रूप में परिभाषित कर इस पर प्रतिक्रियावादी होने का लांछन लगाया। यह सच है कि रीतिकाल की कविता एक विराट स्वप्न और लोकमंगल की साधना से कटी हुई कविता है लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस कविता ने हिन्दी काव्य–परम्परा को अभिव्यक्ति का एक पुष्ट आधर दिया और श्रृंगार के प्रसंग में सौन्दर्य के मनभावन प्रसंगों की भरपूर उद्भावना की। इस दृष्टि से अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद यह कविता हिन्दी काव्यधारा में जगह पाने का हक रखती है। किन्हीं निश्चित प्रतिमानों के आधार पर इस सम्पूर्ण काव्य को किसी लावारिस खाते में नहीं डाला जा सकता।

रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएं

रीतिमुक्त काव्यधारा रीतिकाल में रीतिबद्ध काव्यधारा के समानांतर विकसित होने वाली ऐसी काव्यधारा है जो रीतिबद्ध कविता की प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थी। रीतिमुक्त कवियों ने एक निश्चित परिपाटी या रूढ़ि में बंधकर काव्य सृजन का निषेध किया तथा अपने मनोभावों के अनुरूप काव्य–रचना कर स्वच्छंद काव्यधारा का प्रवर्तन किया। भाव और शिल्प, दोनों क्षेत्रों में स्वच्छंदता को अपनाते हुए इस धारा के कवियों ने साहित्य लिखा। काव्यशास्त्र को सामने रखकर उसमें वर्णित अलंकार, नायक–नायिका भेद, रस, रीति आदि के अनुरूप उदाहरण लिखकर काव्य रचने वालों की

जकड़न से कविता को मुक्त करने वाली तथा कविता में अनुभूति की प्रतिष्ठा करने वाली इस काव्यधारा की विशेषताएं निम्नांकित हैं।

स्वच्छंदता रीतिमुक्त काव्यधारा की केन्द्रीय विशेषता है। जिस प्रकार यूरोप में क्लासिकल काव्यधारा के विरोध में स्वच्छंदतावादी काव्य प्रकट हुआ था उसी प्रकार रीतिकाव्य की प्रतिक्रिया में रीतिमुक्त काव्य का उदय हुआ। इस धारा के कवियों ने रीतिबद्ध कवियों के समान अपने को काव्यशास्त्रीय परम्परा में आबद्ध नहीं रखा। जो कविता रीति, अलंकार, नायक–नायिका भेद आदि के बंद कमरे में घुट रही थी, उसे एक खुला आकाश दिया।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने सिर्फ स्वच्छंदता को ही नहीं अपनाया बल्कि इसे अपनाते हुए अत्यंत सजग रूप से और खुले शब्दों में **रीतिबद्धता का निषेध** किया। इन्होंने किसी भी रीति या परिपाटी पर चलकर तथा काव्यशास्त्र के नियमों को आधार बनाकर काव्य रचने वालों को कवि तथा उनकी कविता को रचना मानने से इनकार किया। ठाकुर ने रीतिकालीन कविता के सारंपरिक उपमान विधान की आलोचना करते हुए कहा –

'डेल सो बनाय, आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।'

रीतिमुक्त कवियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की है। उसमें बनावटीपन नहीं है बल्कि एक सहज स्वाभाविकता है। वह आत्मप्रदर्शन का साधन न होकर आत्माभिव्यक्ति का साधन है। इन कविताओं में भावावेग की तीव्रता है। कवियों ने अपनी कसक, पीड़ा को मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

वैयक्तिकता रीतिमुक्त कविता की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। आंतरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के कारण यह कविता रीतिबद्ध कविता के समान वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक है। इस वैयक्तिकता का प्रभाव कविता के भाव और शिल्प दोनों पर है। घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम आदि की कृतियां रचनाकार की वैयक्तिक विशिष्टताओं के कारण सहज ही पहचान में आ जाती हैं।

प्रेमानुभूति रीतिमुक्त कवियों की मूल संवेदना है, जो उनके संपूर्ण काव्य में स्पंदित है। यह प्रेम इन कवियों का अनुभूत है रीतिकवियों के समान आरोपित नहीं है। अतः इन्होंने प्रेम का गहन एवं स्वाभाविक चित्रण किया है जिसमें जीवन की ताजगी, तीव्रता तथा ऊर्जा मिलती है। इनके प्रेम

में छल–कपट, दुराव–छिपाव, कृत्रिमता तथा चातुरी की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। घनानंद के शब्दों में –

'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं
तहाँ सांचै चलै तजि आपुनपौ, झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं।।'

रीतिमुक्त कवियों की **प्रेम–भावना में उदात्तता** के दर्शन सर्वत्र होते है। रीतिबद्ध कवियों के समान कवि मांसल रूप–सौंदर्य, कामभाव की व्यंजक शारीरिक चेष्टाओं के वर्णन में उलझकर नहीं रह जाता है बल्कि प्रेम की अनन्यता, व्यापकता तथा समर्पण का चित्रण करता है। इसमें रीतिबद्ध कविता की स्थूलता कहीं नहीं है बल्कि सूक्ष्मता और गहनता है।

प्रेम में विरह की प्रधानता तथा नारी की जगह पुरुष के विरह की अभिव्यक्ति रीतिमुक्त काव्यधारा की विशेषता है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम विरह और पीड़ा में ही अपनी सार्थकता मानता है, मिलन और भोग में नहीं। संयोग के समय भी इन्हें वियोग की आशंका सताती रहती है – 'यह कैसो संजोग न बूझि परै कि वियोग न क्योंहूँ बिछोहत है।' रीतिमुक्त कवियों के वियोग–वर्णन में **क्रहात्मकता** एवं दुराग्रह कल्पना का अभाव है। इस विरह–वर्णन की एक खास विशेषता यह है कि यहां विरह नारी का न होकर पुरुष का है। घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि कवियों ने अपने लौकिक प्रेम–विरह की अभिव्यक्ति की है।

IAS/PCS

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों में दरबारीपन का नितान्त अभाव है। उनमें रीतिसिद्ध कवियों की तरह यश, पद और धन की लिप्सा नहीं थी। अतः उन्होंने दरबारों की सेवा नहीं की। परिस्थिति की विवशता से जिन्होंने दरबार की शरण ली थी, वे भी अपनी स्वाभिमानी तथा स्वच्छंद वृत्ति के कारण ज्यादा दिन तक टिक नहीं सके।

लोकसंस्कृति का चित्रण – होली, तीज, कृष्ण जन्मोत्सव, वसंत, फाग, विवाह

प्रकृति चित्रण – केवल बाह्य स्वरूप नहीं अपितु आंतरिक प्रभाव का भी चित्रण

अरबी फारसी का प्रभाव

अभिनव अभिव्यंजना शिल्प का विकास भी रीतिमुक्त कविता की विशेषता है। शिल्प के क्षेत्र में भी ये परम्परागत बंधनों से नितांत मुक्त होकर नेतन भंगिमा का अन्वेषण करते हैं। रीतिकारों की अतिशय अलंकरण वृत्ति की अस्वीकृति इनकी अभिव्यंजना का प्रमुख गुण है। अलंकारिक चमत्कार

की जगह सहजता और नैसर्गिकता का दर्शन इनके काव्यों में होता है। इन कवियों ने भाषा की शक्ति का विकास कर उसे सौंदर्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। संस्कृत, अरबी, फारसी आदि विभिन्न भाषाओं से शब्दों का निस्संकोच ग्रहण उनकी उदार भाषा दृष्टि का परिचायक है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग उनकी लोक–सम्पृक्ति का प्रमाण है। लक्षणा और व्यंजना शब्द–शक्ति के योग से उन्होंने भाषा को समृद्ध किया है।

वस्तुतः उपर्युक्त विशेषताओं को धारण करते हुए रीतिमुक्त कवियों ने अपने को रीति परिपाटी तथा दरबार दोनों से मुक्त रखा। अपनी स्वच्छंदता के सहारे उन्होंने उस काल में एक ऐतिहासिक कार्य किया। पूरे रीतिकालीन समाज और साहित्य में एक खास तरीके का ठहराव दिखाई देता है। जहां एक ओर समाज विलासिता में डूबा हुआ है वहीं दूसरी ओर साहित्य भी इस विलास का एक साधन बन जाता है। कविता बंध जाती है - रीति और रुग्ण विलासमय शृंगारिकता के बंधन में। रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने साहित्य को इस रीतिवादिता और विलासमय शृंगारिकता से निकाले कर स्वच्छंदता और निश्चल प्रेम की जमीन पर खड़ा किया तथा भाव एवं अभिव्यक्ति की नई दिशा की खोज की।

रीतिकाल का नामकरण

रीतिकाल का नामकरण यद्यपि आदिकाल की तरह बहुत विवादास्पद नहीं है लेकिन अनेक विद्वानों ने इस काल को विभिन्न नामों से पुकारा है। उन नामों के औचित्य पर विचार करते हुए रीतिकाल नाम की सार्थकता का विवेचन अपेक्षित है।

1. मिश्रबंधु – अलंकृत काल

रीतिकाल के लिए मिश्रबंधुओं ने अलंकृत काल नाम सुझाया था। मिश्रबंधुओं का तर्क यह है कि सम्पूर्ण रीतिकाल, कविता की अन्तर्वस्तु की तुलना में अभिव्यक्ति के अलंकरण पर बल देता है। अलंकरण की प्रवृत्ति समूचे रीतिकाल की केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसलिए 'अलंकृत काल' इस कविता की एक सर्वमान्य संज्ञा हो सकती है। निश्चित रूप से अलंकरण की प्रवृत्ति इस काल की एक आधारभूत विशेषता है, लेकिन विद्वानों ने मिश्रबंधुओं के इस नामकरण को स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाया गया 'रीतिकाल' नाम था। मिश्रबंधुओं की यह संज्ञा रचना की प्रवृत्ति के धरातल पर तो सार्थक प्रतीत होती है लेकिन वह अलंकृति की मूल प्रेरणा का कोई संकेत नहीं दे पाती। इसलिए इस संज्ञा को अपर्याप्त माना गया।

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – रीतिकाल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल के लिए रीति का प्रयोग किया। रीति का प्रयोग सबसे पहले नवीं शताब्दी में वामन ने किया। रीति का प्रयोग करते हुए वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति को कविता की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन के अनुसार रीति का संबंध पदावली की संघटना से है। रीतिकाल में प्रयुक्त रीति शब्द वामन के रीति शब्द के व्यापक अभिप्राय के अनुरूप नहीं है। यहां रीति का अर्थ है – मार्ग, पद्धति। इसलिए शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त रीतिकाल का अर्थ है – ऐसी कविता जो अलंकार शास्त्र और रसशास्त्र के नियमों के अनुसार लिखी गई हो। इस प्रकार रीति से इस काव्य की मूल प्रेरणा का भी पता चलता है और इस कविता की आधारभूत प्रवृत्ति शृंगार का भी बोध होता है। इस प्रकार यह संज्ञा अपनी व्यापकता के कारण सही अर्थों में इस काव्य की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का निर्वहन करती है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph. 2659400, IAS/PCS: 9968418666

3. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – शृंगार काल

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल को शृंगारकाल के नाम से अभिहित किया है। शृंगार इस काल की व्यापक प्रवृत्ति है और यह इस काल के सभी कवियों पर लागू होती है। ऊपर से देखने पर यह संज्ञा रीति की तुलना में अधिक स्वाभाविक दिखाई देती है। क्योंकि इसके अन्तर्गत वे कवि भी आ जाते हैं जिन्हें रीतिमुक्त कवि कहा गया है। आचार्य शुक्ल रीतिकाव्य में शृंगार चेतना की व्यापकता से सहमत हैं और अपने इतिहास में उन्होंने इसे शृंगारकाल कहने की छूट का संकेत भी दिया है – 'वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।'

लेकिन दो कारणों से शृंगारकाल संज्ञा रीतिकाल की तुलना में कम उचित प्रतीत होती है। रीतिकाव्य का शृंगार भी सामान्यतः रीतिबद्ध है इसलिए रीति संज्ञा स्वयं इस शृंगार के संकेत के लिए पर्याप्त है। दूसरा कारण यह है कि शृंगारकाव्य के नाम से अभिहित करने पर इस काव्य की अन्य काव्य प्रवृत्तियों भक्ति, नीति, वीर इत्यादि उपेक्षित हो जाती हैं। अतः रीतिकाल नाम ही सर्वथा उपयुक्त है।

4. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' – कला काल

रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इस काल के लिए 'कला काल' नाम प्रस्तावित किया। एक स्तर पर यह मिश्रबंधुओं के 'अलंकृत काल' से मिलता–जुलता नाम है। निःसंदेह कलात्मकता के प्रति एक दुर्निवार आग्रह इस काल की कविता में दिखाई देता है लेकिन इस संज्ञा में कविता के नाम पर कलाबाजी करने की जो ध्वनि आती है वह कविता की एरिकता के साथ न्याय नहीं करती और चूंकि यह कला भी नीति से नियंत्रित है, इसलिए विद्वानों ने अलंकरण और शृंगार की तरह ही इस संज्ञा को भी रीति में ही अन्तर्भूत कर दिया।

समग्रतः आचार्य शुक्ल द्वारा सुझाया गया रीतिकाल नाम इस काल के लिए सर्वमान्य है। रीति शब्द जहां इस काल की कविता के प्रेरणा बिन्दुओं की तरफ संकेत करती है, वहीं दूसरी तरफ अभिव्यक्ति और अन्तर्वस्तु की एक निश्चित पद्धति की सूचना भी देती है। इसलिए रीतिकाल नाम सभी दृष्टियों से उचित भी है और मान्य भी।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष रीतिकाल की उपलब्धियां IAS Ph. 27659402, 9858448506

काव्यशास्त्र :

रीति-आचार्यों के दोष पहले आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है - सिद्धान्त-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियां हैं : एक के अन्तर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना और दूसरी के अन्तर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के रीति-आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे व्यापक आधारभूत सिद्धांत का प्रतिपादन, जो काव्य-चिन्तन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया, परन्तु उन तथाकथित उद्‌भावनाओं का भी आधार-स्रोत किसी न किसी संस्कृत-ग्रंथ में मिल जाता है। जहां ऐसा नहीं है वहां भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता, अर्थात् वहां नवीनता-प्रदर्शन केवल

नवीनता या विस्तार मोह के कारण किया गया है काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्‌भावनाएं अकाव्योचित भी हो गयी हैं। जैसे – खर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिका-भेदों का विस्तार, अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का विस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही गलत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आन्तरिक रूप का नहीं है, अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहां व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिन्दी का रीति-आचार्य इस अपेक्षित अंग को उजागर कर सकता था। यहां मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यत: उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph.2709409 IAS/PCS:9868448606

दूसरा क्षेत्र था – व्यवस्था का, रीतिकाल तथा संस्कृत- काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में गड़बड़ी की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी थी। उदाहरण के लिए ध्वनि का भेद-विस्तार हजारों तक, नायिकाभेद की संख्या भी सैकड़ों तक पहुंच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे गये थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परिणामत: भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकीथी, अस्त-व्यस्त सी हो गयी थी। पण्डितराज जगन्नाथ जैसें मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर ही अधिक थी, अत: शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी। हिन्दी का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया, अपने समसामयिक पण्डितराज का मार्ग ग्रहण न कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे कवि-आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था, और वह था – हिन्दी का विशाल काव्य-राशि का अनुगम

विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतंत्र विधान की कल्पना करना। किन्तु उसने हिन्दी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए उसने संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलम्बन लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया, इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वास्तव में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद और नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्त्तव्य-कर्म का निषेध करना था। आलोचना-शास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है, उसका आलोच्य साहित्य के साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। अतः न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहरणों का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्ध सम्भव थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहां प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक रखा था, वहां हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इसमें काव्य की वृद्धि तो निश्चय ही हुई, किन्तु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रन्थों पर आधुनिक शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने-आपमें निर्भ्रान्त नहीं था, दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म-गम्भीर प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं था। प्रतापसाहि-जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत-आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं, मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत-काव्यलक्षण-

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहं, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ।।

काव्यप्रकाश रसगंगाधर मत-काव्यलक्षण -

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।
उक्त रीति मुद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य।।

वास्तव में इसी प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है, परन्तु इन कवियों की अपनी परिसीमाएं थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियां उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पण्डितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिन्तन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था- जिसके लिए न मौलिक सिद्धान्त -प्रतिपादन अपेक्षा था, न खण्डन-मण्डन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था, रसिकों को सामान्यकाव्य-रीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था, उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमन्तों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कला-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही। अतः उनके [illegible] लक्षणग्रंथों की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे, सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य की [illegible] भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी, तर्क और विचार-विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छन्द के बन्धन में बंधा हुआ पद्य नहीं। हिन्दी के सर्वांग-निरूपक आचार्य [illegible] काव्य-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है, किन्तु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रोहतक) उत्कर्ष IAS Ph. 2859400, IAS/PCS-9868448666

अतः रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इनका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं :

1. **उद्भावक आचार्य**, जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है : जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि। ये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।

2. **व्याख्यात आचार्य**, जो नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्त्तव्य-कर्म होता है - मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे।

3. तीसरा वर्ग है - **कवि-शिक्षकों** का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्‌भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खण्डन-मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र, भानुदत्त आदि की भी गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति-आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गहनता की उन्हें सूझ थी, किन्तु खण्डन-मण्डन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार पर होना चाहिए।

अतएव **हिन्दी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार हिन्दी काव्य के शास्त्र-चिन्तन की प्रौढ़ि प्राप्ति हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत हुए।** भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। इसके अपने दोष हो सके हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी-आलोचना पर इसका सत्प्रभाव भी स्पष्ट है। अन्य भाषाओं में जहां संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया है, वहां हिन्दी और मराठी में यह अन्तःसूत्र टूटा नहीं है। फल हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रासके

अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्वपूर्ण योगदान यह है कि **इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की।** इतिहास साक्षी है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। रस का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत अंग-रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतंत्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहा 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया। मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार-रस में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर इन आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राण-तत्व रसानन्द की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिका भेद के प्रति उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में रसकुटिल, अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रस-सिद्धान्त के सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग की दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नहीं है, इनके पीछे गहरी आस्था का बल था।

रीतिकाव्य : भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भांति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है। आलोचना के आरम्भ से ही इस पर आलोचकों की वक्रदृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्यबोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषयवस्तु एवं अभिव्यंजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया। इस प्रकार की आलोचनाएं निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं - इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन

के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति को ग्रहण करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जायेगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएं प्राप्त होती हैं, जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा' है। इसमें से पहली शुक्ल जी की शब्दावली में 'आनन्द की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्व देती है। केवल भारतीय वाङमय में ही नहीं, विश्व-भर के वाङमय में काव्य के ये दो पृथक रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आन्तरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और इनका आख्यान करने वाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएं दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना आवश्यक है। एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी-न-किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए, वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य दृष्टि में, तथा पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्य-दृष्टि में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है, फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है - बिहारी की आलोचना करते हुए पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चांद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि कवित्व और रस में मौलिक अखण्डता है - किन्तु यह अखण्डता तो अन्तिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्तभेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने र रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना अं कदाचित सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु जीवन में सरसता का मूल नगण्य नहीं है - जीवन के मार्ग में धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ह

किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षा की शीतल छांह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम से कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई - कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इनमें सन्देह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था - उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। काव्यवस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य के सौन्दर्यात्मक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है, और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें सन्देह नहीं। इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। यहां इस सत्य का पिष्टपेषण आवश्यक है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह मनोरंजन मानव-जीवन की [illegible] आवश्यकता है इसकी पूर्ति करने वाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असंदिग्ध है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए - उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्व असन्दिग्ध है। वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही काव्यों को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्य-कला

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS/PCS Ph. 2765408 9868148606

का अपना स्वतंत्र महत्व था - उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। **ब्रजभाषा के काव्य-रूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कान्ति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी - शब्दों को जैसे खराद पर उतारकर कोमल और चिक्कण रूप प्रदान किया गया।** सवैया और कवित्त की रेशमी जमीन पर रंग-बिरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियों का छन्द-विधान एक बंधी लीक पर ही चलता है : उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि-दोष है : सवैया और कवित्त के विधान के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय परिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीत रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व-युग के तुलसी और सूर-जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द-जैसे प्रवीण कलाकारों के छन्द-विधान के साथ तुलना करने पर स्वत: स्पष्ट हो जाता है - ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव को होते हुए भी रीतिकवियों के छन्द-संगीत की सृष्टि करने में नितान्त असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि इसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है - वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पन्त में मिलता है, परन्तु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अत: इस कविता का कलात्मक रूप अपने-आपमें विशेष मूल्यवान है - और इसी रूप में इसके महत्व का आकलन होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाव्य में सूर, मीरां और घनानन्द जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी, न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म-सौन्दर्यबोध ही यहां उपलब्ध होगा, परन्तु मुक्तक-परम्परा की गोष्ठीमण्डन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कला-रूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी-काव्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा अपना उदाहरण आप ही है : किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण में नहीं रचा गया।

रीतिमुक्त काव्य : इस युग की तीसरी प्रवृत्ति है - रीतिमुक्त काव्य। परिमाण में कम होने पर भी काव्य-गुण की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने संकेत किया है, यह काव्य हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद का आभास है। इन कवियों ने काव्य के प्रति अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की और जीवन तथा काव्य में रीति-रूढ़ियों का तिरस्कार कर स्वच्छन्द मार्ग का ग्रहण किया। कविता के लिए सायास शिल्प-विधान का कोई महत्व नहीं है, वह आवेश - प्रेम के आवेग - का सहज उच्छलन है।

समुझि समुझि बातैं छोलिबो न काम भावै
छावै घनआनन्द न जौ लौं नेह बौरई।।

इस प्रकार काव्य में अन्तःप्रेरणा - 'नेह बौरई' अथवा 'लोकोत्तर विक्षेप' की महत्व-प्रतिष्ठा हुई और उसी को कवित्व का उदगम-स्रोत माना गया। इन कवियों का भी मुख्य विषय प्रेम या शृंगार ही है। किन्तु यह स्वच्छन्द प्रेम है, जो एक ओर भक्ति की साम्प्रदायिकता से मुक्त है और दूसरी ओर समाज के रीति-नियमों से। इसमें न रीति-शृंगार की रूढ़ियों - विभाव-अनुभव-संचारी का प्रपंच है और न शास्त्र का कृत्रिम विधान। यह प्रेम प्रायः एकनिष्ठ और एकांगी है और फिर भी रसाभास के अन्तर्गत नहीं आता। इन कवियों ने रीतिभाषा की उपेक्षा कर टकसाली ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया जिसमें जनभाषा की ताजगी है। उसमें आयास-सिद्ध-माधुर्य, कोमलता, मसृणता, कान्ति आदि गुणों

के स्थान पर भाव की मिठास से उत्पन्न माधुर्य और तीव्रता से उत्पन्न कान्ति मिलती है। यहां अलंकारों का प्रयोग सजावट के लिए नहीं किया गया, भाव की दीप्ति से वाणी अनायास ही दीपित हो उठी है। इसीलिए रीतिमुक्त काव्य में लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलंकारिक उद्भावनाओं का प्राधान्य है। वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'शुद्ध कविता' की खोज का यह पहला सफल प्रयास था।

अन्य काव्य-प्रवृत्तियां : रीति और शृंगार के वृत्त से बाहर वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य तथा गद्य के क्षेत्रों में भी रीतिकाल का योगदान स्तुत्य है। वीरकाव्य के क्षेत्र में भूषण और लाल-जैसे समर्थ कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने युगीन काव्य-प्रवृत्ति के प्रतिकूल लोकनायकों के शौर्य का ओजस्वी वाणी में वर्णन कर नये कीर्तिमान स्थापित किए। हिन्दी में अब तक वीरकाव्य की जो परम्परा विद्यमान थी, उसमें या तो देवताओं के पराक्रम का वर्णन था या आश्रयदाताओं का यशोगान। भूषण और लाल के राष्ट्रीय अथवा जातीय अभिमान के साथ वीर-भावना का सम्बन्ध स्थापित कर उसे एक नवीन आयाम प्रदान किया। उधर गुरु गोविन्द सिंह ने इसी भावना को चण्डी तथा महाकाल के प्रतीकों के द्वारा अत्यन्त प्रबल स्वर में प्रबन्धकाव्य के रूप में व्यक्त किया। भक्तिकाल की धारा भी इस युग में पूरे वेग से प्रवाहित थी - माधुरी भक्ति का विस्तार कृष्ण कीर्त्य की सीमाओं को पार कर रासकाव्य तक हो चुका था और रामभक्ति में रसिक भावना का पूर्णतः सन्निवेश हो गया था। भक्तिकाव्य के क्षेत्र में गेय पदों और लीलाओं की रचना प्रभूत मात्रा में हुई। किन्तु रसार्द्रता होने पर भी इन रचनाओं में प्रायः मौलिक प्रतिभा का अभाव है, अधिकांश कवियों ने प्रायः पूर्ववर्ती काव्य की पुनरावृत्ति ही की है। कविता के क्षेत्र में इस युग की एक विशेष घटना है - 'महाभारत' का अनुवाद। सबलसिंह चौहान का अनुवाद तो प्रायः इतिवृत्तात्मक ही है, परन्तु गोकुलनाथ, गोपीनाथ आदि के अनुवादों में काव्य-गुण का भी पूर्ण सद्भाव है।

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव रीतिकाल की अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि है। खड़ी बोली गद्य के आरम्भिक निर्माता - इंशाअल्ला खां, सदासुखलाल, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल तथा उनके पूर्ववर्ती

रामप्रसाद निरंजनी का आविर्भाव-काल यही है अर्थात् इसी युग में आधुनिक हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन हुआ।

इस प्रकार रीतिकाल हिन्दी-साहित्य के बहुविध विकास-विस्तार का युग है। इसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का उत्कर्ष-बिन्दु देव, बिहारी, मतिराम के काव्य तक ही पहुंच पाया - तुलसी और सूर के कीर्तिमान अप्राप्य ही रहे, परन्तु 'शुद्ध कविता' अथवा काव्य-कला के प्रतिमानों से आंकने पर इसका योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है।

-000-

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph.2765940O·IAS/PCS·9868448606